श्रीमद्भगवद्गीता

का

सरल पद्यानुवाद

[तर्ज रामायण राधेश्याम]

गौतम बुक डिपो दिल्ली

* ओ३म् *

श्रीमद्भगवद्गीता

और उसका

सरल पद्यानुवाद

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
यजुर्वेद अ० ४०। २।

अनुवादक
श्री ज्ञान प्रकाश एम० ए०

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो,
नई सड़क, देहली

प्रथम बार २०००] १९४६ [मूल्य २।)

❋ समर्पण ❋

यह पुस्तक मैं अपने बड़े भाई ला० गिरधारीलालजी सुपुत्र ला० भोलानाथजी मालिक फर्म भोलानाथ गि. धारीलाल, नयाबांस, देहली (महरौली निवासी) जो गीता के परं भक्त तथा प्रेमी थे और भक्त जी के नाम से प्रसिद्ध थे और जो १० दिसम्बर १६४४ को लगभग ५८ वर्ष की आयु में इस असार संसार को त्याग कर स्वर्ग धाम सिधारे

चरणों में
सादर समर्पित करता हूँ
परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति दे।

अनुवादक—
ज्ञान प्रकाश
एम० ए० बी० टी०

❋ विषय-सूची ❋

अध्याय	विषय	पृष्ठ
समर्पण		[४]
भूमिका	(पं० धर्मदेवजी विद्या वाचस्पति)	[५]
दो शब्द	(पं० देवव्रत जी धर्मेन्दु)	[१३]
गीता का संक्षिप्त परिचय		[१६]
प्राक्कथन		[२२]
पहला अध्याय	(अर्जुन विषाद योग)	२
दूसरा अध्याय	(सांख्य योग)	१४
तीसरा अध्याय	(कर्म योग)	३२
चौथा अध्याय	(ज्ञान कर्म सन्यास योग)	४४
पाँचवां अध्याय	(कर्म सन्यास योग)	५४
छठा अध्याय	(आत्म संयम योग)	६२
सातवां अध्याय	(ज्ञान विज्ञान योग)	७४

अध्याय	विषय	पृष्ठ
आठवां अध्याय	(अक्षर ब्रह्म योग)	८२
नवां अध्याय	(राजविद्या राजगुह्य योग)	९०
दसवां अध्याय	(विभूति योग)	१००
ग्यारहवां अध्याय	(विश्व रूप दर्शन योग)	११२
बारहवां अध्याय	(भक्ति योग)	१३१
तेरहवां अध्याय	(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग)	१३८
चौदहवां अध्याय	(गुणत्रय विभाग योग)	१४८
पन्द्रहवां अध्याय	(पुरुषोत्तम योग)	१५६
सोलहवां अध्याय	(दैवासुर संपद्विभाग योग)	१६२
सत्रहवां अध्याय	(श्रद्धात्रय विभाग योग)	१६८
अठारहवां अध्याय	(मोक्ष सन्यास योग)	१७६
गीता के मुख्य उपदेश	(कवित्त)	१९४
कठिन शब्दों के अर्थ		१९९
शुद्धि पत्र		

* ओ३म् *

❀ भूमिका ❀

मेरे मित्र श्रीयुत ज्ञान प्रकाश जी ने जो भगवद्गीता का पद्यानुवाद किया है उसके बहुत से अंशों को मैंने देखा है। यह अनुवाद सरस और सरल-भाषा में किया गया है। और टिप्पणियों द्वारा अनुवादक महोदय ने उसे और भी अधिक सरल बनाने का यत्न किया है ताकि सर्व साधारण उससे अधिक लाभ उठा सकें।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण महाराज ने आत्मा की अमरता कर्मयोग, स्थितप्रज्ञता का आदर्श, योग, ज्ञान, कर्म, भक्ति, दैवी सम्पत्ति वर्ण, धर्म, तप, दान, यज्ञ आदि विषयों का बड़ा उत्तम प्रतिपादन किया है। इसमें किसी को ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता किन्तु एक दो विषय ऐसे हैं जिनके विषय में पाठकों को सन्देह होना सम्भव है इस भूमिका में उन्हीं पर थोड़ा सा प्रकाश डालना मैं आवश्यक समझता हूँ। वर्तमान गीता में पाये जाने वाले:—

> गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत।
> प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीज मव्ययम् ॥

इत्यादि कई श्लोकों के आधार पर बहुत से सज्जनों
भ्रम हो जाता है कि श्री कृष्ण महाराज अपने को ही
ईश्वर मानते थे किन्तु वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है ।
सन्देह नहीं कि गीता में "गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी" जैसे कुछ
उपलब्ध होते हैं जिनमें साधारणतया ऐसा प्रतीत होता
श्रीकृष्ण अपने को ही परमात्मा मान कर इन वचनों का
कर रहे हैं पर अन्य अनेक श्लोक इसी गीता में ही स्पष्ट
पाये जाते हैं जिनमें श्री कृष्ण अपने से परमेश्वर को
और पूजनीय बताते तथा यह भी कहते हैं कि मैं उस
शरण में जाता हूँ उदाहरणार्थ अ० १३ में वे कहते हैं:—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

गीता अ० १३

अर्थात् सब प्राणियों के अन्दर स्थित परमेश्वर को जो अवि
है देखता है वही ज्ञानी है ।

अध्याय १५ में वे कहते हैं:—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ १५ । ४॥

अर्थात्—तब उस परं पद (मोक्ष) की खोज करनी चाहिये जहां से मनुष्य (बहुत देर तक) वापिस नहीं लौटता। मैं भी उस सब के आदि मूल सर्व व्यापक परमेश्वर की शरण में आता हूँ जिसने इस संसार को बनाया है। "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये" ये प्रथम पुरुषान्त शब्द इस विषय में स्पष्ट हैं।

गीता के १८ वें अध्याय में श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुये कहा है कि:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ १८।६१
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्
॥ १८। ६२ ॥

अर्थात्—ईश्वर सब प्राणियों के अन्दर स्थित होकर मानो सब को घुमा रहा है। तू सर्व भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जा उसकी कृपा से ही तुझे नित्य शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति होगी।

ऐसे ही और अनेक श्लोकों में श्री कृष्ण ने परमेश्वर को अपने से पृथक स्पष्टतया बताया है। अतः इन दोनों प्रकार के श्लोकों का समन्वय इसी प्रकार हो सकता है कि श्रीकृष्ण यद्यपि परमेश्वर से पृथक थे और वैसा ही अपने को मानते थे पर योगीराज होने के कारण वेदान्त दर्शन के "अभ्यात्म

सम्बन्ध भूमा ह्यस्मिन" इत्यादि सूत्रों के अनुसार
के साथ विशेष प्रेम व भक्ति के कारण उन्होंने
अपना ईश्वर से तादात्म्य (Identification) क
जैसे कि हो वनिष्ट मित्र "हम दोनों तो एक हैं" ऐसे वा
प्रयोग करते हैं अथवा जैसे कि शास्त्रानुसार पति पत्नी
शरीर के अँग माने जाते हैं जिस का तात्पर्य उनका
अतिशय प्रेम है न कि शारीरिक दृष्टि से सर्वथा अ
वस्तुत: महाभारत के पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता
योगीराज श्रीकृष्ण ने गीता में प्रोक्त उपदेश एक अत्यु
की अवस्था में दिया था और वे स्वयं भी उसे उसी
पुनः देने में अपने को असमर्थ समझते थे जैसे कि अनु
पर्व के निम्न श्लोकों से स्पष्ट है जहां अर्जुन के
उपदेश को दोबारा देने की प्रार्थना पर श्री कृष्ण ने कहा है

अबुद्धया नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साम्प्रतमभूयः पुनर्स्मृतिर्भविष्
न हि शक्यं मया भूयः पुनर्वक्तुमशेषतः।
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्

अर्थात तूने अबुद्धि वश मेरे कहे उपदेश को जो
भांति ग्रहण नहीं कर लिया यह बात मुझे बड़ी अप्रिय
आज मुझे उस विषय की फिर स्मृति न हो सकेगी। मेरे
फिर सम्पूर्णतया उसका प्रतिपादन करना सम्भव न
मैंने एक विशेष योग युक्त अवस्था में परं ब्रह्म परमेश्वर का

किया था। इन श्लोकों से इस विषय में ज़रा भी सन्देह नहीं रहता कि श्री कृष्ण परब्रह्म परमेश्वर से अपने को पृथक् समझते थे। वे अपने को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान न मानते थे तथा गीता का उपदेश एक विशेष योग की अवस्था में दिया गया था आशा है विचार शील पाठक इसी दृष्टि से गीता के वचनों का समन्वय कर लेंगे। एक दूसरा भ्रम श्री कृष्ण के-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ४ । ८

इत्यादि वचनों से सर्व साधारण पाठकों को भ्रम हो जाता है। वे इन से अवतारवाद का समर्थन समझते हैं कि ईश्वर स्वयं कह रहा है कि जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब २ मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुओं की रक्षा दुष्टों का नाश तथा धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग २ में उत्पन्न होता हूँ। वास्तव में ये श्रीकृष्ण महाराज के वचन हैं। (न कि परमेश्वर के) इनका तात्पर्य स्पष्ट है कि जब जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है श्रीकृष्ण अथवा उन जैसे महापुरुष जन्म लेकर धर्म की रक्षा तथा अधर्म का नाश करते हैं। वे धर्म रक्षार्थ आत्म बलिदान तक करते हैं क्योंकि सृज धातु का अर्थ विसर्ग अथवा त्याग भी होता है।

१३ वें अध्याय में श्रीकृष्ण महाराज ने वेदों और उपनिष
की तरह ब्रह्म को अनादि सर्वव्यापक तथा सर्वेन्द्रिय रहि
(निराकार) सर्वान्तर्यामी बताया है। जैसे कि:—

> अनादिमत्परं ब्रह्म, न सत्तन्नासदुच्यते। १३–१२
> सर्वतः पाणिपादं तत सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।
> सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। १३—१३
> सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। १३—१४
> बहिरन्तश्च भूतानाम् अचरं चरमेव च।
> सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्। १३—१५

इन श्लोकों से अत्यन्त स्पष्ट है। अतः यही बात वेद शास्
तथा तर्कसम्मत है कि सर्व व्यापक निराकार परमेश्वर स
शक्तिमान और सर्वज्ञ हैं। उन्हें शरीर धारण करने की कर्म
आवश्यकता नहीं होती। उनकी कृपा से योगीराज श्रीकृष्ण
जैसे महानुभाव समय २ पर जन्म लेकर धर्म की स्थापना औ
अधर्म का नाश करते रहते हैं।

गीता और वेद—

कई सज्जन जिन्होंने ध्यानपूर्वक गीता का अनुशीलन नहं
किया यह कहते हुए सुने जाते हैं कि गीता में वेदों को ईश्वरीय
ज्ञान नहीं माना गया। तथा कई स्थानों पर उनकी आलोचन
की गई है। परन्तु वस्तुतः यह भ्रम है।

गीता के अ० ३ श्लोक १५ में ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

स्पष्ट बताया गया है कि कर्म की उत्पत्ति वेद से है (वेद के द्वारा ही कर्तव्य कर्म का ज्ञान होता है) और वेद की उत्पत्ति अविनाशी परमेश्वर से है इसलिए सर्वव्यापी परमात्मा ही सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है इसी प्रकार गीता अ० १७ श्लोक २३ में ।

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणा स्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताःपुरा ॥

अर्थात् ओ३म् तत्सत् यह वाच्य ब्रह्म है । उस ब्रह्म ने ही वेद बनाये और यज्ञों का विधान किया है ।

"ब्रह्मणा" यह पाठ कश्मीरी संस्करणों में पाया जाता है । जो हमें आज कल के प्रायः प्रचलित ब्राह्मणास्तेन पाठ की अपेक्षा अधिक शुद्ध प्रतीत होता है । ब्राह्मणास्तेन मानने पर भी इस श्लोक से वेदों का ईश्वरीयत्व स्पष्टतया प्रमाणित होता है । गीता के दूसरे अध्याय के कुछ श्लोकों में जो वैदिक याज्ञिक लोगों की आलोचना प्रतीत होती है वह केवल उन लोगों की है जो वेदों के अनुसार अपने जीवन को पवित्र नहीं बनाते किन्तु केवल वेदों का पाठ तथा उनकी चर्चा करने में तत्पर रहते हैं जैसे कि—

"वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः" इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है । केवल बाह्य कर्म काण्ड को ही जो सब कुछ समझते

हैं इसके अतिरिक्त ज्ञान उपासनादि भी कुछ नहीं, ऐसा जो मानते हैं उन्हीं को यहां अविद्वान वा अविपश्चितः इस शब्द से पुकारा गया है। इस से वेदों की निन्दा का कोई तात्पर्य नहीं।

इन शब्दों के साथ मैं श्रीयुत् ज्ञानप्रकाश जी कृत भगवद्-गीता का पद्यानुवाद पाठकों के सम्मुख रखता हूँ। आशा है वे उससे विशेष लाभ उठायेंगे और उसे लोकप्रिय बनाने में सहायक होंगे।

धर्मदेव विद्यावाचस्पति
स० मन्त्री सार्वदेशिक धर्मार्थ सभा
देहली।

दो शब्द

श्रीमद्भगवत गीता एक अनुपम ग्रन्थ है यह इतना सर्वमान्य और लोक प्रिय है कि संसार की प्रायः समस्त भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ गीता प्रेमी जनता को मैंने केवल भाषा पाठ करते देखा है और बहुत सारे बहिन भाइयों को तो केवल "गीता माहात्म्य पाठ" करके ही सन्तोष करते देखा है। मेरी यह हार्दिक इच्छा थी कि इस ग्रन्थ रत्न का पद्यानुवाद पं० राधेश्याम जी की रामायण की सुप्रसिद्ध तर्ज पर गाने योग्य कविता में हो जावे जिससे रामायण की तरह घर २ में गीता भी गाई जा सके और प्रत्येक आबाल वृद्ध स्त्री पुरुष सुविधा पूर्वक गीता से पूरा २ लाभ उठा सकें।

मुझे यह जानकर असीम हर्ष हुआ है कि आर्य समाज मौडल बस्ती के उत्साही कार्य कर्ता श्री ला० ज्ञानप्रकाश जी ने

(जो एक अच्छे कवि भी हैं) श्रीमद्भगवत् गीता जैसे मूढ़ विषय को अतीव सरल, सुबोध एवं रोचक पद्यों में सब साधारण जनता के लिये अनुवाद करके एक महती आवश्यकता की पूर्ति कर दी है। उन्होंने अपने अनुवाद में से कई महत्व पूर्ण स्थल पढ़कर मुझे सुनाने की कृपा की है। अनुवाद निस्सन्देह बड़ा सरल है जिसे हिन्दी की साधारण योग्यता रखने वाला प्रत्येक मनुष्य सुगमता से समझ सकता है। गीता जैसे कठिन दार्शनिक विषय का प्रचार गायक तथा कवि बड़ी सुगमता से अपनी कविता व गायन द्वारा कर सकते हैं। कवि उसे छन्द-बद्ध करके गायक के लिये सामग्री जुटाता है। और गायक मधुर ध्वनि में उसे जनता के सामने प्रस्तुत करता है जिससे मनुष्यों के लिये कठिन से कठिन विषय भी अत्यन्त रुचिकर व सरल हो जाता है।

अनुवाद करने में अनुवादक प्रायः या तो मूल पुस्तक के भाव को उलटा कर देते हैं या मूल से भी कठिन कर देते हैं। मुझे गीता के इस अनुवाद को सुनकर यह अनुवाद उपरोक्त दोनों त्रुटियों से ऊपर जंचा है।

गीता के विषय के सम्बन्ध में यद्यपि मूल भाव से किसी का विरोध नहीं क्योंकि गीता मनुष्यों को निष्काम कर्म करने का उपदेश तथा योग की शिक्षा देती है और मनुष्य जीवन का उद्देश्य अर्थात् मुक्ति और उसके साधनों का ज्ञान कराती है

तथापि दो तीन बातों में वैदिक धर्मी इससे सहमत नहीं जैसे अवतार वाद, विराट् रूप दर्शन, ईश्वरीय ज्ञान परम पवित्र वेदों के सम्बन्ध में उनके महत्व को कम करके दिखाने का भाव आदि २ इन विषयों के सम्बन्ध में टिप्पणी करके मैं इस गीता के अनुवाद की रोचकता में बाधक बनना उचित नहीं समझता। इन विषयों के सम्बन्ध में जो जैसा २ विश्वास रखता है वैसा वैसा इनका समाधान कर लेगा। अनुवादक ने केवल मूल पुस्तक का अनुवाद करके जनता के सामने रक्खा है। इसे समझना व इस पर सम्मति देना अकुण काम है। मैं इन थोड़े से शब्दों के साथ डा० ज्ञानप्रकाश जी को उनके पुरुषार्थ के लिये हार्दिक बधाई देता हूँ। मुझे आशा है कि गीता प्रेमी संस्कृत से अनभिज्ञ सर्व साधारण हिन्दू जनता इस अनुवाद को बहुत पसन्द करेगी। और इसे अपना कर इससे पूरा २ लाभ उठा अपने कर्त्तव्य का पालन करेगी।

देवव्रतः धर्मेन्दु

"आर्य्योपदेशक" दरिया गंज, देहली।

गीता का संक्षिप्त परिचय

गीता के द्वारा भगवान् कृष्ण ने महाभारत के युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अर्जुन के मन से मोह का पर्दा हटाकर उसको अपने कर्त्तव्य का ध्यान दिलाया है और युद्ध करने के लिये प्रेरित किया है। अन्याय को सहन करना अन्याय करने वाले के उत्साह को बढ़ाता है और इस प्रकार से संसार की शान्ति को भंग करता है। इस लिये आततायी यदि गुरु या पूजनीय भी क्यों न हो उसको मारना ही धर्म है यही गीता के उपदेश का सार है।

पहले अध्याय में अर्जुन श्री कृष्ण को अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करने को कहते हैं और यह देखकर कि मुझे अपने पूजनीय गुरुओं तथा सम्बन्धियों से लड़ना होगा वह दुःखी होता है और न लड़ने का निश्चय करके बैठ जाता है।

दूसरे अध्याय में श्री कृष्ण जी उसको भिन्न २ युक्तियां देकर समझाते हैं कि इस समय तेरा कर्त्तव्य युद्ध करना है। आत्मा अमर है इस लिये कोई भी किसी को नहीं मार सकता। मृत्यु केवल शरीर का बदलना है। मनुष्य कहेंगे कि रण से डर कर भाग गया है यशस्वी पुरुष के लिये अपयश मृत्यु से

भी बुरा है। तेरा कर्म करने में ही अधिकार है फल का देना परमात्मा के हाथ है। यदि तू कर्म को केवल कर्त्तव्य समझ कर करेगा और फल की इच्छा न करेगा तो तुझे पाप न लगेगा। यदि तू जीत या हार को अथवा हानि या लाभ को और सफलता या निष्फलता को समान समझेगा तो कर्म बन्धन से मुक्त होवेगा। जो विषयों और कामनाओं को त्याग देता है वही नर शान्ति को पाता है। मनुष्य भोगों को भोगने से कभी सुख या शान्ति नहीं पाता।

तीसरे अध्याय में यज्ञ की महिमा बतलाई है। लोक हित आत्मक कर्म को यज्ञ कहा है। काम और क्रोध मनुष्य के महान शत्रु हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिये इनको मारना आवश्यक है। जो कुछ भी श्रेष्ठ पुरुष करते हैं वही अन्य जन करते हैं। इस लिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने आचारण द्वारा मनुष्यों में सत्य धर्म का प्रचार करे।

चौथे अध्याय में ज्ञान के द्वारा कर्मों का भस्म करना बताया है। ज्ञान से बढ़कर पवित्र संसार में कुछ भी नहीं है। यही मोक्ष का कारण है।

पांचवें अध्याय में अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् कभी आप कर्म करने का उपदेश देते हैं और कभी ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ बता कर कर्म त्याग का आदेश देते हैं। श्रीकृष्ण जी उत्तर देते हैं कि मनुष्य कर्म के बिना तो रह ही नहीं सकता अतः मनुष्य

को यदि कर्म के साथ लगाव न हो और वह भले या बु
परिणाम को त्याग करने से वह कुछ न करने वाले के बराब
है। जो मनुष्य प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होता औ
अप्रिय वस्तु को पाकर दुःखी नहीं होता, मिट्टी और सोने क
बराबर मानता है वही सच्चा योगी है और मोक्ष क
अधिकारी है।

छठे अध्याय में बताया कि यदि मनुष्य सब को अपने ह
समान समझे तो वह ही योगी है। मनुष्य स्वयं ही अपन
मित्र है और वह स्वयं ही अपना शत्रु है।

सातवें अध्याय में श्री कृष्ण जी कहते हैं कि जो श्रद्धा से
मेरा आश्रय लेता है वह योगी होकर मुझे ही पाता है। श्री
कृष्ण योगीराज थे अतः वही ही ऐसा कहने का अधिकार
रखते हैं। वे अर्जुन को समझाने के लिये ऐसा कहते हैं।
आठवें नवें और दसवें अध्याय का सारांश भी यही है।

ग्यारहवें अध्याय में श्री कृष्णा जी ने योग बल के द्वारा
अपना विशाल रूप दिखलाया है। जिस प्रकार से मनोविज्ञान
(या मिसमरेज्म) के द्वारा एक मनुष्य दूसरे के मन को अपने
वश में करके अपनी इच्छानुसार उससे कर्म करवाता है उसी
प्रकार श्री कृष्ण ने अर्जुन के मन में बैठ कर उससे वही
अनुभव कराया जो वे चाहते थे।

बारहवें अध्याय में श्री कृष्ण जी यह बतलाते हैं कि जो मनुष्य किसी से द्वेष नहीं रखता, सब को बराबर समझता है, जिसने इन्द्रियों को वश में कर रक्खा है, संन्तुष्ट है, योगी है, न अधिक प्रसन्न होता है, न शोक करता है, शत्रु और मित्र को समान देखता है, मान अपमान निन्दा, स्तुति सर्दी, गर्मी, सुख, दुख सब में एक ही भाव रखता है अर्थात् समवर्तमान नहीं होता वही मुझको प्यारा है और वही कर्मबन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को पाता है।

तेरहवें अध्याय में बताया कि यह जो मनुष्य का शरीर है क्षेत्र कहाता है और इसमें स्थित आत्मा क्षेत्रज्ञ कहाता है और क्षेत्री ब्रह्म है। अहंकार, इच्छा, द्वेष सुख, दुःख, हिंसा पाखण्ड, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा को मलीन करते हैं। इन से दूर रहना चाहिये। जानने योग्य होने से परमात्मा को ज्ञेय भी कहा है उस को जानना ही वास्तविक ज्ञान है।

चौदहवें अध्याय में सत्व रज और तम तीनों गुणों की व्याख्या की है। उत्तम पुरुषों में सत्व गुण प्रधान होता है। मध्यम पुरुषों में रजोगुण की प्रधानता होती है और नीच पुरुषों में तमोगुण अधिकता में होता है। जो इन तीनों गुणों को पार कर लेता है, वह योगी बन जाता है। जो लक्षण ऊपर कर्मयोगी या योगी के बताये हैं वही लक्षण गुणातीत या स्थितप्रज्ञ के हैं।

पन्द्रहवें अध्याय में संसार को उल्टे पीपल के वृक्ष से उपम दी गई है। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं और पत्ते नीचे है। इसवे वेद के पत्ते हैं और विषय भोग की कोंपलें हैं। और अहंकार ममता और वासना की जड़ें हैं। कर्मयोग द्वारा ही इन जड़ें को काटा जा सकता है।

सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत्ति वाले कौन होते हैं औ राक्षसी सम्पत्ति वाले कौन होते हैं यह खोलकर बताया है। क्षमा दया, समता आदि उपरोक्त गुणों को रखने वाले मनुष्य दैवी प्रकृति वाले कहाते हैं और इसके विपरीत अवगुण व दोषयुक्त मनुष्य राक्षसी स्वभाव के कहे जाते हैं।

सत्रहवें अध्याय में तीन तरह की श्रद्धा अर्थात सात्विक राजसी और तामसी श्रद्धा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार आहार, दान, तप, कर्म, यज्ञ आदि का भी इन्हीं तीन भागों में बांटा है। सात्विक गुण सब से उत्तम है और तामसिव सब से बुरा है। आगे चलकर ॐ तत् सत् की व्याख्या की है।

अठारहवें अर्थात् अन्तिम अध्याय में पहले सन्यास औ त्याग में भेद बताया है कर्त्तव्य कर्म का त्याग सन्यास है औ फल की इच्छा का त्याग ही वास्तविक त्याग है। फिर त्याग के भी तीन भाग अर्थात् सात्विक, राजसी और तामसी में बांटा है फिर बताया कि प्रत्येक कार्य के पांच कारण होते हैं। जैसे ए

मारने वाले की चेष्टायें, शस्त्र जिससे प्रहार किया जावे और भाग्य यह पांच मिलकर मारने की क्रिया करते हैं परन्तु मनुष्य अहंकार के वश होकर केवल अपने को ही कर्ता मानता है। इसीसे कर्मबन्धन में आता है। फिर ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख को भी उपरोक्त तीन भागों में बांटा गया है। फिर ज्ञान, कर्म, कर्ता के भी तीन २ प्रकार से अर्थात् सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद दिखलाये हैं। इसी प्रकार धृति अर्थात् धारणा और सुख को भी तीन भागों में बांटा है। फिर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के लक्षण बताये हैं। प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह अपने कर्म करता रहे। इसके पश्चात् फिर वही कर्म योग का मार्ग बताया है और इस बात को स्पष्ट किया है कि यदि मनुष्य अपने कर्तव्य को निष्काम रूप से करे और ईश्वर की भक्ति में लगा रहे तो वह मोक्ष को पाता है।

इस उपदेश के पश्चात् श्री कृष्ण ने अर्जुन से पूछा कि तुमको मेरा आदेश समझ में आया या नहीं।

अर्जुन ने कहा मैं आपका उपदेश भली प्रकार से समझ गया हूँ, और मेरा मोह दूर हो गया है। मैं तुम्हारी आज्ञानुसार ही कार्य करूंगा।

यह सारी बात संजय से स्वयं सुनकर धृतराष्ट्र को सुनाई है जो नेत्रहीन होने से स्वयं कुछ भी न देख सकते थे।

अनुवादक

ॐ

प्राक्कथन

प्रिय पाठकगण !

श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद अनेक भाषाओं में गद्य औ पद्य में हो चुका है। बड़े २ विद्वानों ने इसकी टीका की है औ अपनी सम्मति के अनुसार व्याख्या की है। उन विद्वतापू ग्रन्थों के होते हुये मुझ अल्प बुद्धि द्वारा भी अनुवाद कर का साहस करना धृष्टता पूर्ण ही है। तथापि गीता को पढ़ अनायास ही मनुष्य का चित्त इस पर कुछ अपने विचार प्रक करने को चंचल हो उठता है। इस पुस्तक को लिखने का उद्दे इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं। यदि पाठकों ने इसको पसं किया तो मैं इस परिश्रम को सफल समझूंगा।

विशेषतायें

(१) यह पुस्तक आसान भाषा में लिखी गई है जिससे कि साधारण भाषा का ज्ञान रखने वाले भी इसको समझ सकें।

(२) कठिन शब्दों और विषयों की व्याख्या पुस्तक के पीछे दी गई है जिससे कि गूढ़ विषय भी सरल हो गये हैं।

(३) पद्य का छन्द अतीव रोचक है। यह वह तर्ज है जिसमें प्रसिद्ध कवि राधेश्याम ने अपनी रामायण लिखी है। इसके द्वारा रामायण की तरह भजनोपदेशक गीता जैसे कठिन विषय की भी कथा गाकर लोगों को सुना सकते हैं।

(४) रोचक होने से कण्ठस्थ भी की जा सकती है। इस प्रकार गीता का प्रचार अधिक होगा। वेद व उपनिषदों के पश्चात् संसार में न्याय, सुख, शांति लाने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह गीता ही है यह बात किसी से छिपी नहीं। इसलिये इसका जितना प्रचार हो उतना ही अच्छा है। यही इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है।

अन्त में मैं पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति का अत्यन्त धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर इस अनुवाद की भूमिका लिखी है और इस को दोहराकर जहां तहां संशोधन भी किया है तथा समय समय पर अपनी अमूल्य

सम्मति द्वारा मुझे अनुगृहीत किया है । पं० देवव्रतजी धर्मेन्दु ने भी अपनी अपूर्व सम्मति देकर मुझे कृतार्थ किया है मैं उन का अत्यन्त आभारी हूँ।

अनुवादक

* ॐ *

[illegible]

का

सरल पद्यानुवाद

(तर्ज़, [illegible] राधेश्याम)

लेखक—

श्री ज्ञान प्रकाश

एम० ए० बी० टी०

प्रकाशक—

गौतम बुकडिपो,

नई सड़क,

देहली।

प्रथम बार २०००]   १९४६   [मूल्य   )

* ॐ *

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

का

सरल पद्यानुवाद

(तर्ज़-रामायण राधेश्याम)

पहला अध्याय

(अर्जुन विषाद योग)

धृतराष्ट्र संजय से प्रश्न करते हैं:—

उस धर्मक्षेत्र कुरुभूमि में एकत्र हुए रणचाह लिये।
मम पुत्रों अरु पाण्डव दलने बोलो सञ्जय क्या कर्म किये ॥१॥

सञ्जय का उत्तर:— (युद्ध का प्रारम्भिक दृश्य)

सञ्जय बोला अरि-व्यूह देख दुर्योधन मन में चकराया।
आचार्य द्रोण के पास पहुँच विस्तार सहित यह बतलाया ॥२॥

पाण्डव की लम्बी सेना को आचार्य! तनिक देखो तो सही।
तव शिष्य द्रुपद के बेटे ने अति जटिल व्यूह में खड़ी करी ॥३॥

इस सेना में अति शूरवीर भीमार्जुन सम धनुधारी हैं।
युयुधान, विराट महारथी, अरु द्रुपद तुल्य बलधारी हैं ॥४॥

वह धृष्टकेतु, चिकितान तथा वह काशीराज है महाबली।
हैं कुन्ति भोज, पुरुजीत वहां नरश्रेष्ठ शैव्य है पराक्रमी ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्त जीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

उत्तमौजा और युधामन्यु, अभिमन्यु बल को धारे हैं।
अरु द्रौपदि के बेटे पाञ्चों सब महारथी रखवारे हैं ॥६॥

दोहा--नायक अब निज पक्ष के, सुनिये कृपा निधान।
ज्ञान हेतु संक्षेप में, उनका करूँ बखान ॥७॥

हैं आप व दादा भीष्म हैं कृप और कर्ण से वीर यहाँ।
विकरण है अश्वत्थामा हैं पुनि सौम दत्ति रणधीर यहाँ ॥८॥
कुछ और अनेकों शूरवीर मम हेतु युद्ध में आये हैं।
हैं अस्त्र शस्त्र से युक्त सभी रण कौशल में यश पाये हैं ॥९॥
इन भीष्म पितामह रक्षक हैं पर सेना थोड़ी लगती है।
पर उधर भीम द्वारा रक्षित सेना में भारी शक्ती है ॥१०॥
बस इसी लिये सब मोर्चों पर सब वीर स्थान पर खड़े रहें।
भीष्म की रक्षा करने को सब युद्ध क्षेत्र में अड़े रहें ॥११॥

दोहा--ऊँचे स्वर से भीष्म ने, दीन्हां शंख बजाय।
दुर्योधन सुन नाद को, फूला नहीं समाय ॥

जब भीष्म प्रतापी ने ऊँचे स्वर से वह शङ्ख बजा दीन्हा।
करके अति भारी सिंहनाद दुर्योधन-चित हर्षित कीन्हा ॥१२॥
तब खड्ग नगारे ढोल बजे रणवीरों का आह्वान हुआ।
इक साथ बजे सारे बाजे सहसा इक शब्द महान हुआ ॥१३॥
इक सुन्दर रथ में जुते हुए कुछ घोड़े श्वेत दिखाते थे।
श्रीकृष्ण और अर्जुन बैठे अति अद्भुत शङ्ख बजाते थे ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ।
अनन्त विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डीच महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चा पराजितः ॥ १७ ।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथ्वीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ।
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवींचैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १६ ।
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ।

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदावाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ।
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं द एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३

माधव ने लीन्हा पाञ्चजन्य, दिवदत्त पार्थ ने सम्भाला।
अरु भीमसेन बलशाली ने निज पौण्डर शङ्ख बाजा डाला ।।१५।।
फिर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ने आनन्त विजय का नाद किया।
सहदेव नकुल ने वारी से मणिपुष्प सुघोष बजाय दिया ।।१६।।
धनुधारी काशीराज वहाँ औ विरट, शिखण्डी अड़ते थे।
ये धृष्ट द्युम्न सात्यकि योद्धा वे नहीं किसी से डरते थे ।।१७।।
थे द्रुपद वीर निज सुतों सहित, अभिमन्यु भी दिखलाते थे।
वे महाबली योद्धा रण में जो तनिक नहीं घबराते थे ।।१८।।
इन सब ने अपने शङ्ख लिये अति ऊँचे स्वर से घोष किया।
आकाश हिला पृथ्वी काँपी सब कौरव दल भी कंपा दिया ।।१९।।
धृतराष्ट्र-सुतों को जब देखा तैयार युद्ध के लिये खड़े।
धनुलिया कपिध्वज अर्जुन ने मधुसूदन रथ पर जाय अड़े ।।२०।।

अर्जुन बोला—

फिर माधव से अर्जुन बोला हे भूप ! जरा तुम ध्यान धरो।
हे कृष्ण हमारा रथ दोनों सेनाओं बीच खड़ा कर दो ।।२१।।
मैं सारे वीरों को देखूं पूरी मम इच्छा आप करो।
किन २ से लड़ना है मुझको यह दृश्य दिखाकर ताप हरो ।।२२।।
है इच्छा एक यही मेरी देखूं जो लड़ने आये हैं।
जो दुष्ट कुमति दुर्योधन हित निज प्राण गंवाने आये हैं"।।२३।।

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो
गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये
स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच—

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

संजय ने कहा—

दोहा—ठहराया रथ कृष्ण ने उसी स्थान पर लाय।
भीष्म, द्रोण, अरु अन्य नृप, दिये सभी दिखलाय ॥

यह सुनकर माधव ने दोनों सेनाओं में रथ खड़ा किया।
उस लड़ने वाले वीरों को सम्पूर्ण रूप से दिखा दिया ॥२४॥

बोले श्रीकृष्ण लखो अर्जुन ! यह कौरव गण दिखलाते हैं।
यह भीष्म द्रोण हैं खड़े हुए दोनों मुखिया कहलाते हैं ॥२५॥

अर्जुन ने देखा चाचा हैं अरु, दादा, मामा खड़े हुए।
आचारज हैं, भाई भी हैं, सब पुत्र पौत्र हैं अड़े हुए ॥२६॥

अब मित्र सखा औ श्वसुर वहां थे लड़ने को तैयार सभी।
निज बन्धुन को रण में लख कर सम्बन्धी औ परिवार सभी ॥२७॥

अर्जुन बोला—

दिल देख दया से दुखित हुआ मधुसूदन से यूं बचन कहे ॥८॥
अपने सम्बन्धी को लखकर जो लड़ने मुझ से आय रहे ॥२

मम अङ्ग शिथिल होते जाते मुख मेरा सूखा जाता है।
तन मेरा सारा कांप गया सिर में भी चक्कर आता है ॥२९॥

कर से गाण्डीव सरकता है अरु देह जली जाती मेरी।
अति कठिन खड़ा रहना मुझ को बुद्धी है चकराती मेरी ॥३०॥

लक्षण विपरीत नजर आते निज कुल का मैं संहार करूं।
नहिं कुशल दिखाई देती है स्वजनों पर जो मैं वार करूँ ॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगा सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३

एतान्न हन्तुमिच्छामि
घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य
हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबाँधवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनःस्याम माधव ॥ ३

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४

मैं नहीं राज करना चाहूं रण जीत सुखों की चाह नहीं ।
क्या करना है इन भोगों का इन प्राणों की परवाह नहीं ॥३२॥

जिन को सुख देने की खातिर हम राज भोग की चाह करें ।
तज वही मोह निज प्राणों का रण में लड़ने की चाह करें ॥३३॥

आचार्य, पितर, लड़के, दादा हैं सभी यहां एकत्र हुए ।
मामा, पोते, साले व ससुर सब सम्बन्धी एकत्र हुए ॥३४॥

दोहा---भूमि सहित सुख को मिले, तीन लोक का राज ।
इन को मैं मारूं नहीं, मरूं स्वयं महाराज ॥

पृथ्वी का तो कहना ही क्या यदि त्रैलोकी का राज मिले ।
मैं मारा भी जाऊँ रण में नहिं इन पर मेरा शस्त्र चले ॥३५॥

धृतराष्ट्र सुतों को वध करके क्या मन हर्षित हो सकता है ।
इन पापिन को भी मार सखे ! क्या मेरा हित हो सकता है ॥३६॥

धृतराष्ट्र सुतों को हम मारें यह उचित नहीं लगता हमको ।
यदि बन्धु हमारे मरजायें तो क्या सुख मिलसकता हमको ॥३७॥

यह यद्यपि लोभ के वश होकर नर पाप देख नहिं पाते हैं ।
कुल नाश भये क्या हानि हो अन्दाज़ह नहीं लगाते हैं ॥३८॥

पर माधव मैंने जाना है परिणाम बुरा इसका होगा ।
कर्त्तव्य हमारा अब यह है रोकें रण को अच्छा होगा ॥३९॥

दोहा---होता है कुल नाश से, नष्ट सनातन धर्म ।
धर्म नष्ट जब हो गया, फैले घोर अधर्म ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४
अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादोऽर्जुनविषादयोगो नाम
प्रथमोऽध्यायः ।

कुल नष्ट हुआ तो धर्म कहां जब धर्म गया तो पाप बढ़े।
नारी दूषित हो जायेंगी वर्णों में गड़बड़ आन पड़े ॥४१॥
वर्णों में गड़बड़ होने से, कुल सभी नरक में जाता है।
व्याकुल जिस नरके पितर रहें, कुल घातक वही कहाता है॥४२॥
जब वर्ण सभी गड़बड़ में हों जग में कुलघातक बढ़ जावें।
सब जातिधर्म कुल धर्म नसें अरु महापाप को फैलावें ॥४३॥
कुल धर्म सभी जब नष्ट हुआ दुख के बादल मंडराते हैं।
सुनते हैं ऐसे पापी नर सब घोर नरक में जाते हैं ॥ ४४ ॥
इस राज्य सुखों के लोभी हम यह महापाप करने आये।
अपने ही हाथों निज कुल की ध्रुव अचल कीर्ति हरने आये॥४५॥
अब मेरा भला इसी में है मैं तजूं शस्त्र नहिं वार करूँ।
मुझ को यह मारें तो भी मैं इन का न कभी संहार करूँ॥४६॥

संजय बोला—

दोहा—अर्जुन ने यूं वचन कह, तज दीन्हा धनु बाण।
अति उदास मन में हुआ, बैठा रथ में आन ॥४७

पहला अध्याय समाप्त।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १

श्री भगवान उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थ कामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

दूसरा अध्याय (सांख्य योग)

संजय बोला—

ठा अर्जुन जब यों उदास आँखों में आंसू भरे हुए।
प्रति खिन्न चित्त उसका देखा मधुसूदन ने ये वचन कहे ॥१॥

श्री भगवान ने कहा—

"इस कठिन समय में हे अर्जुन! क्यों कायरता दिखलाते हो।
यह आर्यों को है उचित नहीं क्यों कुल में दाग लगाते हो॥२॥

दोहा—पार्थ! नपुंसक मत बनो, तुमको यह न सुहात।
मन की दुर्बलता तजो, धनुष बाण लो हाथ ॥३॥

अर्जुन बोला—

अर्जुन बोला "हे कृष्ण! बता, कैसे गुरुओं को मारूँगा।
हैं भीष्म द्रोण अति पूजनीय, कैसे रण में संहारूँगा ॥४॥

इन पूज्य जनों के बध से तो,
भिक्षा निर्वाह कहीं अच्छा।
मुर्दों के रक्त मिले दूषित,
भोगों का भोग नहीं अच्छा ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥
कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ चेताः
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोक मुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूव ह ॥ ९

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १०

श्री भगवान उवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११

वे जीतेंगे, या हम जीतें,
क्या हितकर है नहिं जाना है।
नहिं जिन्हें मार जीना चाहें,
उन का वध करना ठाना है ॥६॥
कायरता मोह वशी होकर,
तव शिष्य पूछता है हम से।
निश्चय सन्मार्ग बताओ जो,
हितकर हो विनय करूँ तुमसे ॥७॥
धन धान्य युक्त निष्कण्टक भी,
यदि देवों का आधिपत्य मिले।
साधन ऐसा नहिं दिखता है,
इन्द्रिय-शोषक जो ताप हरे ॥८॥

सञ्जय बोलाः—

दोहा-अर्जुन तो यों वचन कह, बैठ रहा चुप चाप।
नहीं लड़ूंगा कृष्ण ! मैं, हुआ मुझे संताप ॥६॥
सुन कर उस की बात को, कृष्ण दिये मुस्काय।
सेनाओं के बीच में, बोले यह समुझाय ॥१०॥

श्री भगवान ने कहा—

तुम व्यर्थ बात का शोक करो अरु बात पण्डितों की करते।
जीवितअरुमृतक मनुष्यों का नहिंपण्डितशोककभीकरते ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

नासतो विद्यते भावो
नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्त-
स्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः ।

मैं भी तू भी, यह सभी नृपति, यहां पूर्व जन्म में आये थे।
२॥अब भी मर कर आएंगे, फिर, जैसे ये पहले आये थे ॥१२॥
जैसे इस तन में बालकपन यौवन व बुढ़ापा आता है।
३॥वैसे ही देह बदलती है, नहिं धीर कभी दुख पाता है ॥१३॥
सर्दी, गर्मी औ सुख दुख सब हैं इन्द्रिय गण संयोग सखे।
४॥तुम इन को सहन करो अर्जुन हैं क्षण-भंगुर ये भोग सखे ॥१४
दुख-दुख समान हैं जिस नर को उसको ये नहीं सताते हैं।
॥ पुरुष ! धन्य हैं ऐसे नर वे परं धाम को पाते हैं ॥१५॥
जस का अस्तित्व नहीं होता उसका अभाव ही रहता है।
र जो कुछ सत्य सनातन है वह सदा जगत में रहता है ॥
ानी पुरुषों को दोनों का यह तत्व समझ में आया है।
सत्य सत्य अरु असत् असत् मन में विश्वास जमाया है ॥१६॥
ो व्यापक सारे जग में है अविनाशी वही कहाता है।
७॥ह अव्यय है, नर नष्ट उसे नहिं कोई भी कर पाता है॥१७॥
ह अमर नित्य जो आत्मा है उसकी यह देह विनाशी है।
८॥म करो युद्ध बेखटके अब नहिं देह कोई अविनाशी है॥१८॥
ो आत्मा को हिंसक जाने या वह है कि यह मारी जावे।
९॥ दोनों ही अज्ञानी हैं यह अजर अमर नित कहलावे ॥१९

दोहा—अजर अमर है आत्मा, इसकी यह पहिचान।
तन मारे मरता नहीं, शाश्वत नित्य पुराण ॥

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽप
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि
नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्यएव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमाविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि
अथचैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि
जातस्य हि ध्रुवं मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तानिधनान्येव तत्र का परिदेवना
आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव च
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यःशृणोति श्रुत्वाप्येनंवेद न चैव करि

यह आत्मा सदा अजन्मा है अरु कभी नहीं मरता है यह ।
होकर, अदृश्य नहीं होता तन गिरे न पर गिरता है यह॥२०॥
अविनाशी नित्य,अजर जिसको यह आत्मा अव्यय जान परे।
हे अर्जुन ! सोचो तनिक तुम्हीं कब कौन किसी के प्राण हरे २१
जिस प्रकार तज जीर्ण वस्त्र प्राणी नित नये बदलता है।
इस भांति पुराने देह त्याग आत्मा नव देह बदलता है ॥२२॥
शस्त्रों से नहीं कटे देही, नहिं आग जला सकती इसको।
जलमें नहिं शक्ति जलाने की, नहिं पवन उड़ा सकती इसको २३
यह कटे नहीं यह जले नहीं, अरु गले नहीं, नहिं शुष्क है।
है नित्य, अचल सब जीवोंमें पुनि सत्य,सनातन, अटल रहे ॥२४
नहिं जान इन्द्रियां इसे सकें, मन में भी सोच नहीं पाते।
इस कारण जान इसे ऐसा विद्वान भला कब दुख पाते ॥२५॥
पर यदि तू ऐसा भी माने, लेता है जन्म मरेगा भी।
फिर भी नहिं शोक उचित तुमको जो लेगा जन्म मरेगा भी २६

दोहा–जो जन्मा है वह मरे, मरा जन्म फिर लेत।
अपना वश चलता नहीं, क्यों मन को दुख देत ॥२७॥

पहले अप्रगट रहें प्राणी जीवन में प्रगट दिखाते हैं।
अदृश्य पुनः मरने पर हों, फिर क्यों यह शोक मनाते हैं॥२८॥
हैरानी से देखें इसको, कुछ चकित हुए गुण गान करें।
पुनि कोई सुनें अद्भुत वर्णन,सुनकर भी नहिं पहिचान करें ॥२९

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिंच हित्वा पापमवाप्स्यसि
अकीर्तिंश्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वाँ महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे मही
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ।
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।

है अर्जुन ! तन में देही है वह नहीं कभी मारी जावे।
सब जीवों में तू यही मान नहिं उचित शोक मन में लावे ॥३०॥

दोहा–देख तनिक निज धर्म को, होजा तू निर्भीक।
धर्म युद्ध करना सदा, क्षत्रिय को है ठीक ॥३१॥

है स्वर्ग द्वार रह आप खुला ऐसा सुन्दर अवसर आया।
है इस प्रकार का धर्म युद्ध विरले ही क्षत्रिय ने पाया ॥३२॥
इस धर्म युद्ध में भी अर्जुन ! यदि पीछे कदम हटावेगा।
निज धर्म गवाँ अपयश पावे, जग में पापी कहलावेगा ॥३३॥
नर तुझे निरादर से देखें अर्जुन ! यह बात नहीं अच्छी।
अति माननीय सज्जन को तो, अपयश से मौत कहीं अच्छी ॥३४॥
"रण से वह डर कर भाग गया, सब महारथी उचारेंगे।
जो करते अब सन्मान तेरा, कायर वे तुझे पुकारेंगे ॥३५॥
निन्दा बहु भांति करें तेरी, तेरे अनहित के वचन कहें।
होगी दूषित सामर्थ्य तेरी, मानी जन कब यह बात सहें ॥३६॥
रण में मर कर तो स्वर्ग मिले, जीता पृथ्वी को भोगेगा।
हे कुन्ती सुत ! उठ लड़ने को वह काटेगा जो बोवेगा ॥३७॥

दोहा–हानि, लाभ, जय, हार को सुख, दुख को सम जान।
नहीं पाप तुझको लगे, युद्ध करे अस मान ॥३८॥

हे पार्थ ! बताया ज्ञान योग, अब कर्म योग बतलाते हैं।
इस कर्म योग द्वारा प्राणी छुट कर्मपाश से जाते हैं ॥ ३९

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्
यामिमां पुष्पितां वाचं
प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ
नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिंप्रति
भोगैश्वर्य्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते
त्रैगुण्यविषया वेदा
निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो
निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः
कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि

जो किया, नहीं मिटता इस से अरु पाप असर नहिं करता है।
इसका थोड़ा भी ज्ञान सखे! बहु भय से रक्षा करता है ॥४०॥
दृढ़ निश्चय वाले की प्रतिभा कुरुनन्दन! एक कहाती है।
पर जिसकी बुद्धि अनिश्चित हो बहुशाखा वह बन जाती है ॥४१॥
जो मूरख हैं अरु कामी हैं बस वेद वेद चिल्लाते हैं।
वे स्वर्ग परायण होते हैं पर वेद समझ नहिं पाते हैं॥
"कुछ और नहीं" यह कहते हैं ऐसी वाणी बतलाते हैं।
फल युक्त कर्म का मान करें, अरु जन्म अनेकों पाते हैं ॥४२॥
ऐश्वर्य भोगे देने वाली अनगिनत क्रियायें करते हैं।
बहु विषय भोग में फँसे हुए नर भ्रष्ट चित्त को करते हैं ॥४३॥
पुनि बुद्धि अनिश्चित होने पर वे चंचल-चित हो जाते हैं।
मन भले काम में लगे नहीं, प्रभु ध्यान लगा नहिं पाते हैं ॥४४॥

दोहा—वेदों के सब विषय हैं, तीन गुणों से युक्त।
इन विषयों के संग से, हो जा अर्जुन मुक्त ॥
सत्य बात में मन लगा, बन जा आत्मावान।
पाना और संभालना, छोड़ सभी अनजान ॥ ४५॥

सुविशाल जलाशय के आगे जोहड़ क्या हस्ती रखता है।
तिमि ब्राह्मण ब्रह्मानन्द पाय वेदों की चाहन करता है ॥४६॥
अधिकार कर्म में है तेरा बश में तेरे परिणाम नहीं।
कारण फल का मत बनो मगर टाली रहनेका काम नहीं ॥४७

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।

बुद्धियुक्तो जहातीह
उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धि युक्ताहि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

श्री भगवान उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५

योगी बन कर्म करो अर्जुन आसक्त न इसमें हो जाओ ।
तुम हार जीत को सम जानो समता है योग समझ जाओ ॥४८॥
जो कर्म कामना से होता उससे है योग कहीं अच्छा ।
इस बुद्धि योगकी शरण पकड़ फलका है भोग नहीं अच्छा ॥४६॥
बस वही कर्म है योग सदा जो चतुराई से युक्त हुआ ।
समता को जिसने जान लिया वहपाप पुण्य से मुक्त हुआ ।
मन में समता को धारण कर निज कर्म निपुणता से करना ।
अरु कर्म योग को करो अगर बन्धन में नहिं चाहो पड़ना ॥५०॥
फल प्राप्त कर्म से जो होता ज्ञानी उस को तज देते हैं ।
पा जन्म मरण से छुटकारा वह मुक्ति सदा पा लेते हैं ॥५१॥
मोहों की दलदल से जब यह तेरी मति पार चली जावे ।
जो सुनना है, या सुना अभी, उस ओर उदासी हो जावे ॥५२॥
मति भ्रांत हुई है सुनने से, जब यह निश्चल हो जावेगी ।
तब अचल समाधि में रह कर फिर वह समता को पावेगी ॥५३॥

अर्जुन ने प्रश्न किया—

स्थित मति का लक्षण बतलाओ जो समाधिस्थ होजाता है ।
श्रीकृष्ण ! कहो कैसे बोले, बैठे, वह कैसे जाता है ॥५४॥

श्री भगवान बोले—

मन के संकल्पों को तजकर जो नित प्रसन्न हो रहते हैं ।
हे अर्जुन ! उसको ज्ञानीजन स्थित प्रज्ञ सदा ही कहते हैं ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
विषया विनिवर्तन्ते
निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य
परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५६।।
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।
राग द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। ६

कष्टों से नहीं विकल होते इच्छा न सुखों की है जिनको।
भय राग क्रोध से अलग रहें कहते स्थित-प्रज्ञ सभी तिनको ॥५६॥
जो राग रहित होकर जग में शुभ पाय प्रसन्न नहीं होता।
अरु पाय अशुभ निश्चित रहे, स्थिर-बुद्धि मनुष्य वही होता ॥५७॥
जिमि कछुआ अंग हुकेड़े है तिमि जो विषयों से हट जाते।
जो इन्द्रिन को वश में करते स्थिर-बुद्धि पुरुष हैं कहलाते ॥५८॥

दोहा—हट वश यदि भोजन तजो, विषय दूर हो जाय।
राग नहीं मिटता मगर, प्रभु दर्शन से जाय॥

हठ वश जो भोजन को त्यागे वह विषय दूर कर लेता है।
पर राग बना ही रहता है प्रभु-दर्श उसे हर लेता है ॥५९॥
जिससे बहु यत्न किये पर भी ज्ञानी जन हैं बबरा जाते।
बलवान इन्द्रियों के द्वारा निज मन को वह खिंचता पाते ॥६०॥
उन सबको तुम वश में करके मुझ में श्रद्धा उत्पन्न करो।
मन जीत लिया जिसने जग में स्थित-प्रज्ञ उसी का नाम धरो ॥६१॥
विषयों का चिन्तन करने से आसक्ति उन्हीं में होती है।
पुनि आसक्ती से इच्छा हो, वह बीज क्रोध का बोती है ॥६२॥
फिर क्रोध मोह को उपजाता जो सुधि को दूर भगाता है।
सुधि खोय बुद्धि जाती रहती, मति हीन नष्ट हो जाता है ॥६३॥
तज राग द्वेष का भाव अगर प्राणी विषयों को भोगेगा।
ऐसा स्वाधीन वशी नर ही जग में अविचल सुख को लेगा ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ६६

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रतिभूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्
तद्वत्कामायंप्रविशन्तिसर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥७०

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ ७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादेऽर्जुन सांख्य योगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

पाकर के ऐसे सुख को नर अपने सब कष्ट मिटाता है।
वह रहे प्रसन्न सदा मन में स्थिर-बुद्धि वही कहलाता है।।६५।।
है बुद्धि हीन नर योग रहित अरु भक्ति भाव से दूर रहे।
वह शान्ति कभी नहिं पाता है अरु दुखों से भरपूर रहे।।६६।।
जो जल में बहती नाव उसे जिमि पवन खींच ले जाती है।
जिस इन्द्रिय का मन दास रहे वह प्रज्ञा हीन बनाती है।।
दोहा–इन्द्रिय मन के बस नहीं, मन उसके आधीन।
पराधीन मन, पुरुष का, करता है मति हीन।।६७।।
इसलिये महा बाहो! वश में इन्द्रियां जभी कर पाओगे।
सब विषयों से तुम दूर रहो स्थित प्रज्ञ तभी कहलाओगे।।६८।।
सब प्राणी जिसको रात कहे संयम वाला जागे उस में।
जिस वक्त जागते लोग सभी मुनि ज्ञानी सो जावे उसमें।।६९।।
जल से परिपूरित सागर में नदियां प्रवेश कर पाती हैं।
उस अचल प्रतिष्ठा वाले को चञ्चल नहिं कभी बनाती हैं।।
बस इसी तरह इच्छाएँ भी जिस नर में आन समाती हैं।
जग में सुख पाता है न कि वह इच्छाएँ जिसे सताती हैं।।७०।।
बेलाग त्याग इच्छाओं को जो ममता पास न रखता है।
हो अहंकार का लेश नहीं सुख का मीठा फल चखता है।।७१।।
दोहा–ब्राह्मी स्थिति है पार्थ, यह इससे मोह न होय।
अन्त समय पाकर इसे लीन ब्रह्म में होय।।७२।।

सांख्य योग नाम का दूसरा अध्याय समाप्त।

अथ तृतीयोऽध्यायः कर्मयोग ।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

श्री भगवान-उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७

तीसरा अध्याय (कर्म-योग)

——※——

अर्जुन ने पूछा—

अर्जुन बोला "यदि कर्म योग से बुद्धि योग अच्छा जानो।
तो रण में मुझसे अति कठोर यह कर्म कराना क्यों ठानो ॥१॥
अब कुछ कहते, फिर कुछ कहते, क्यों भ्रम में मुझको रखते हो।
निश्चय पूर्वक इक बात कहो कल्याण मेरा अब जिससे हो" ॥२॥

श्री भगवान ने कहा—

बोले माधव "पहिले मैंने दो मार्ग बताये हैं तुम को।
इक सांख्यों का है ज्ञान योग अरु कर्मयोग योगी जन को ॥३॥
कुछ कर्म न करने से केवल कोई निष्कर्म नहीं होता।
अरु कर्म त्याग कर के भी नर बन्धन से मुक्त नहीं होता ॥४॥
देखो कोई भी नर जग में बिन कर्म नहीं रह सकता है।
सब कर्म करें बेबस होकर गुण प्रकृति का कब टलता है ॥५॥
हठ करके नर यदि ऊपर से भोगों को दूर हटाता है।
पर मन में चिन्तन करता है वह पाखण्डी कहलाता है ॥६॥
निज इन्द्रिन को वश में करके जो कर्म योग में लगे रहें।
हों कर्मों में आसक्त नहीं, उनको ज्ञानी जन श्रेष्ठ कहें ॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०
देवान्भावयतानेन
ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः
श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५
एवं प्रवर्तितं चक्रं
नानुवर्तयतीह यः।

नहिं करने से करना अच्छा तुम उत्तम कर्म करो अर्जुन !।
बिनकर्म करे निर्वाह नहीं निज जीवन सफल करो अर्जुन ॥८॥
जो कर्म लोकहित होते हैं उनमें बन्धन का लेश नहीं।
वह कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं हो उनमें राग अरु द्वेष नहीं॥६॥
जब प्रजा बनाई ईश्वर ने यज्ञों को साथ बनाया था।
यज्ञों से खूब फलो फूलो आदेश यही बतलाया था॥
दोहा–"लोगों के कल्याण हित, दीन्हा यज्ञ बनाय।
इच्छा पूरी यज्ञ से, तुम सब की हो जाय ॥१०॥
यज्ञों से देव बढ़ाओ तुम फिर देव बढ़ावेंगे तुम को।
इस भांति करो उन्नति दोनों, तुम उन्हें बढ़ाओ, वे तुमको ॥११॥
जब देव तुष्ट हों यज्ञों से देंगे वह इष्ट पदार्थ तुम्हें।
यदि खाया उनको बिना दिये तो चोर कहेंगे सभी तुम्हें ॥१२॥
यज्ञों से बचा हुआ खावें वह सन्त पाप से छुट जाते।
जो अपने लिये पकाते हैं पापी हैं, पाप निरा खाते ॥१३॥
अन्नों से प्राणी होते हैं, वर्षा से अन्न उपजता है।
यज्ञों से वर्षा होती है, पुनि यज्ञ कर्म से सजता है ॥१४॥
है कर्म बखाना वेदों में अरु वेद बनाये ईश्वर ने।
सु भक्ति करो यज्ञों से तुम यदि यज्ञ लगे हो तुम करने ॥१५॥
स चक्कर के पीछे जो नर नहिं उचित रूप से चलता है।
ह पापी इन्द्रिय वश होकर बेकार जगत में पलता है॥

अघायुरिन्द्रियारामो
मोघं पार्थ स जीवति ।।१६।।
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।१
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।।२
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।२
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।२
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।२
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२

दोहा--अनुकूल इस चक्र के, जो न करे व्यवहार।
ऐसे पापी नीच का, जीना है बेकार ॥१६॥

आत्मा से प्रेम करे जो नर अरु आत्मा से संतुष्ट रहे।
आत्मा में तृप्त अगर है वह,उसको जग में नहिं कार्य रहे ॥१७॥

वह कर्म करे या नहीं करे कुछ भेद नहीं दिखलाता है।
कारण, उस नरका लोगों से नहिं तनिक स्वार्थ का नाता है॥१८॥

इसलिये सदा आसक्ति बिना कर्त्तव्य कर्म करते जाओ।
निर्लेप कर्म के करने से निश्चय से ब्रह्म को पाओ ॥१९॥

निष्काम कर्म के द्वारा ही जनकादिक ने सिद्धि पाई।
लोगों को साथ चलाने को है कर्म तुम्हें करना भाई ॥२०॥

जो कुछ भी महापुरुष करते वह कार्य सभी नर करते हैं।
जैसा वह मार्ग दिखाते हैं सब पैर उसी पर धरते हैं ॥२१॥

मुझको कुछ भी अप्राप्य नहीं इन तीनों लोकों में अर्जुन !।
कुछ कर्म नहीं करना मुझको तो भी नित कर्म करूं ले सुन ॥२२॥

यदि सावधान होकर मैं भी नहिं कर्म करूं जग में अविरल।
सब लोग चलें मेरे पीछे अरु त्यागें कर्म, बनें निश्चल ॥२३॥

जग में हो भारी उथल पुथल निष्कर्म अगर मैं हो जाऊँ।
वर्णों में गड़बड़ हो जावे लोगों का घातक कहलाऊँ ॥२४॥

अज्ञानी जन अनुरक्त हुए नित कर्म अनेकों करते हैं।
पर-जन-हित ज्ञानी कर्म करें आसक्ति न उसमें धरते हैं ॥२५॥

दोहा—अनुकूल इस चक्र के, जो न करे व्यवहार।
ऐसे पापी नीच का, जीना है बेकार॥१६॥

आत्मा से प्रेम करे जो नर अरु आत्मा से संतुष्ट रहे।
आत्मा में तृप्त अगर है वह,उसको जग में नहिं कार्य रहे॥१७॥
वह कर्म करे या नहीं करे कुछ भेद नहीं दिखलाता है।
कारण, उस नरका लोगों से नहिं तनिक स्वार्थ का नाता है।१८॥
इसलिये सदा आसक्ति बिना कर्तव्य कर्म करते जाओ।
निर्लेप कर्म के करने से निश्चय से ब्रह्म को पाओ॥१९॥
निष्काम कर्म के द्वारा ही जनकादिक ने सिद्धी पाई।
लोगों को साथ चलाने को है कर्म तुम्हें करना भाई॥२०॥
जो कुछ भी महापुरुष करते वह कार्य सभी नर करते हैं।
जैसा वह मार्ग दिखाते हैं सब पैर उसी पर धरते हैं॥२१॥
मुझको कुछ भी अप्राप्य नहीं इन तीनों लोकों में अर्जुन !।
कुछ कर्म नहीं करना मुझको तो भी नित कर्म करूं ले सुन॥२२॥
यदि सावधान होकर मैं भी नहिं कर्म करूं जग में अविरल।
सब लोग चलें मेरे पीछे अरु त्यागें कर्म, बनें निश्चल॥२३॥
जग में हो भारी उथल पुथल निष्कर्म अगर मैं हो जाऊँ।
वर्णों में गड़बड़ हो जावे लोगों का घातक कहलाऊँ॥२४॥
अज्ञानी जन अनुरक्त हुए नित कर्म अनेकों करते हैं।
पर-जन-हित ज्ञानी कर्म करें आसक्ति न उसमें धरते हैं॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनये-
दज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि
विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२
तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२
प्रकृतेर्गुणसंमूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४

मति भेद करें जो मूरख में यह ज्ञानी जन को उचित नहीं।
शुभ कर्म कराना ही अच्छा मति भ्रम में डाले उचित नहीं॥
दोहा—ज्ञानी जन को चाहिये, करे नहीं मति भ्रष्ट।
भले कर्म करता हुआ, मार्ग दिखावे स्पष्ट॥२६॥
सब कर्म मनुष्यों से प्रकृति नित अपने आप कराती है।
यह अभिमानी जनता लेकिन कर्ता निज को बतलाती है॥२७॥
गुण कर्म भेद का जो ज्ञाता निर्लेप सदा ही रहता है।
गुण बसते हैं गुण में जाने, नहिं साथ गुणों के बहता है॥२८॥
जो प्रकृति-गुणों में लीन हुआ, गुण और कर्म में लिप्त रहे।
ऐसे अज्ञानी मूरख को नहिं ज्ञानी भ्रामक बचन कहे॥२९॥
दो शुद्ध और आध्यात्म चित्त सब कर्म मुझे अर्पण कर दो।
ममता आशा को त्याग सखे संताप रहित हो युद्ध करो॥३०॥
श्रद्धा से दोष रहित होकर जो मेरे मत पर हैं अड़ते।
निश्चय से वह नर कर्मों के बन्धन में कभी नहीं पड़ते॥३१॥
पर दोष युक्त हो अज्ञानी मेरा उपदेश नहीं मानें।
उनका कल्याण नहीं होता सब नष्ट हुआ उनको जानें॥३२॥
ज्ञानी जन भी देखो अपनी प्रकृती अनुकूल करम करते।
फिर निग्रह से क्या होता है जब सारे ही ऐसा करते॥३३॥
इन्द्रिन में ठहरे राग द्वेष को जड़ से दूर भगाओ तुम।
यह उलटी राह दिखाते हैं बश में इनके मत आओ तुम॥३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः
परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः
परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६

श्री भगवान उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

दोहे—अन्य जनों का धर्म तज, यद्यपि होवे ठीक।
दोष-युक्त निज धर्म भी, है उत्तम अरु नीक॥
इस में मरना है भला, अन्य धर्म भय-युक्त।
अपने २ धर्म में, रहना है उपयुक्त ॥३५॥

अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन ने पूछा "हे भगवन ! यह पाप कौन करवाता है।
जो नहीं चाहने पर भी नर बल पूर्वक खींचा जाता है ॥३६॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

माधव बोले "यह काम क्रोध जो रजगुण से पैदा होते।
अतिभक्षी हैं, अति पापी हैं यह नर की मति को हैं खाते ॥३७॥
है आग धूम्र से छिपी हुई दर्पण ज्यूं मल से ढक जाता।
ज्यूं गर्भ जेर में रहता है त्यूं "काम" मनों पर छा जाता ॥३८॥
ज्ञानी का ज्ञान ढका इस ने यह तृप्त कभी नहिं होता है।
यह वैरी है अरु अग्नि तुल्य खा खाकर ऊंचा होता है ॥३९
मन इन्द्रिन मेधा को इसके रहने का स्थान सदा जानो।
खोकर के ज्ञान इन्हीं द्वारा आत्मा को मूढ़ किया मानो ॥४०॥
इन्द्रिन को वश में कर अर्जुन ! इस पापी को तुम दूर करो।
विज्ञान ज्ञान को नष्ट करे यह, इसको चकनाचूर करो ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।।

इन्द्रियां सूक्ष्म हैं इस तन से, मन सूक्ष्म देह से तुम जानो।
है बुद्धि सूक्ष्म पुनि मन से भी आत्मा को सूक्ष्मतम मानो ॥४२॥
इस आत्मा को अति सूक्ष्म और बलवान श्रेष्ठ तू जान सखे!।
मन को अपने वश में करले, करसदा काम बलिदान सखे ॥४३॥

दोहा—आत्मा है मति से परे, कर इसकी पहिचान।
मन को वश में कर सदा, करो काम बलिदान॥

कर्म योग नाम का तृतीय अध्याय समाप्त।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

श्री भगवान उवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्री भगवान उवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

चौथा अध्याय (ज्ञान कर्म सन्यास योग)

——※※——

भगवान बोले—

पहले यह योग विवस्वन् को मैंने अर्जुन ! बतलाया था ।
उसने दीन्हाँ मनु को जिसने इक्ष्वाकु को समझाया था ॥१॥
इस परम्परा से प्राप्त हुआ ऋषियों ने इसको जान लिया ।
पर समय बीतने पर इसको बस नष्ट हुआ ही मान लिया ॥२॥
फिर वही पुराना योग तुम्हें अर्जुन ! मैंने बतलाया है ।
मम भक्त मित्र तू प्यारा है हितकर उपदेश सुनाया है ॥३॥

अर्जुन बोला—

अर्जुन बोला तुम अब जन्मे सूरज का जन्म पुराना है ।
उसको यह योग बताया था यह कठिन समझ में आना है ॥४॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

अर्जुन ! बीते बहु जन्म तेरे मैंने भी जन्म बहुत पाये ।
मैं तो उन सबका ज्ञाता हूं पर तुमको नहीं समझ आये ॥५॥
अविनाश-स्वरूप अजन्मा हूँ सब भूतों का हूँ ईश सखे ।
मैं प्रगट जगत में होता हूं निज प्रकृति को वश में करके ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं
यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके
सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

जब धर्म नष्ट होता जग में अरु महा पाप छा जाता है।
तब मुक्त हुआ यह जीव मेरा फिर पुन्र्जन्म पा जाता है॥७॥
दुष्टों का नाश करूं आकर सज्जनों की रक्षा करता हूँ।
अरु धर्म स्थापना के कारण भू पर स्वच्छन्द विचरता हूँ॥८॥
मम जन्म कर्म है दिव्य सखे ! जो इसी तत्व का ज्ञाता है।
वह देह त्याग फिर जन्म न ले बस प्राप्त मुझे हो जाता है॥९॥
भय, राग, क्रोध को तज कर जो नर मेरा आश्रय लेते हैं।
वह ज्ञान तपस्या के बल से निज मन पवित्र कर लेते हैं॥१०॥
वैसे ही मैं उनको भजता जैसे नर मुझको भजते हैं।
हे पार्थ ! सुजन यह तत्व जान मम मार्ग नहीं वह तजते हैं॥११॥

दोहा—"जैसा बोवे काट ले नियम अटल यह जान।
मेरे शासन में रहे, सारा विश्व महान॥

कर्मों के फल के इच्छुक जन वह देवों की पूजा करते।
इस मर्त्यलोक में जल्दी ही वे कर्म फलों को पा लेते॥१२॥
गुण और कर्म अनुसार सखे ! मैं चारों वर्ण बनाता हूँ।
इनका कर्ता भी होकर मैं निष्कर्ता ही कहलाता हूँ॥१३॥
कर्मों के फल की चाह नहीं, नहिं मुझे बाँधते कर्म कभी।
जो नर मुझको ऐसा जानें वह कर्म पाश से छूटें सभी॥१४॥
बस मोक्ष चाहने वाले नर इक यही मार्ग अपनाते हैं।
तू भी ऐसा ही कर अर्जुन ! जो पूर्व पुरुष बतलाते हैं॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

क्या करें और क्या नहीं करें कुछ नहीं समझ में आता है।
वह कर्म बताता हूँ जिससे नर परम धाम को पाता है ॥१६॥

क्या करना है यह जानो तुम, है क्या अकर्म, निष्कर्म सखे !।
दुर्बोध कर्म की गति जग में इसका पहचानो मर्म सखे ! ॥१७॥

कर कर्म अकर्म इसे जाने अरु जो अकर्म को कर्म कहे।
वही योगी है, वह कर्ता है, मतिमान सभी जग उसे कहे ॥१८॥

जो कर्म सदा अपने निशदिन निष्काम भाव से कर पाता।
सब कर्म ज्ञान में जल जाते वह नर पंडित है कहलाता ॥१६॥

जो कर्म फलों में फंसे नहीं, अरु तृप्त रहे स्वच्छन्द रहे।
कर्मों में लगा हुआ भी वह कुछ करे नहीं, आनन्द रहे ॥२०॥

मन, आत्मा जिसके वश में हो धन संग्रह का नहीं ताप लगे
तन द्वारा कर्म किये पर भी नहीं उसे तनिक भी पाप लगे ॥२१

कुछ पा कर लाभ प्रसन्न न हो द्वन्द्वों के पास न जाता है।
जो सफल विफल होनेपर सम, वह बन्धन मुक्त कहाता है ॥२२॥

जो चित्त ज्ञान में लगा हुआ अरु आसक्ती का नाम न हो।
रहित जो कर्म करे प्राणी फंस कर्मों में बदनाम न हो ॥२३॥

दोहा—यज्ञ ब्रह्म, हवि ब्रह्म है, ब्रह्मानल में जाय।
ब्रह्म समाधी जो रहे, वही ब्रह्म पद पाय ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं
योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं
यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३

ओज-प्राप्ति के लिये भिन्न २ मार्ग

कुछ देवों को पूजकर, लोग करें हैं यज्ञ।
अज्ञानल में अन्य जन, भस्म करें हैं यज्ञ॥
कर देवों का पूजन केवल कुछ लोग यज्ञ को करते हैं।
कुछ ब्रह्म समाधी में रहकर नित ध्यान उसीका धरते हैं॥२५॥
कुछ योगीजन निज इन्द्रिनको बस संयमाग्नि में लीन करें।
कुछ शब्दरूप सम विषयों को इन्द्रिनमें सत्ताहीन करें॥२६॥
कुछ कर्म इन्द्रियों से करके निज प्राणों के व्यापारों को।
नित संयमाग्नि में भस्म करें, दहकाये ज्ञान अङ्गारोंको॥२७॥
द्रव्यों से यज्ञ करें कोई, तप यज्ञ, योग का यज्ञ करें।
उत्तम व्रतधारी यती पुरुष स्वाध्याय ज्ञान का यज्ञ करें॥२८॥
कुछ प्राणायाम करें प्राणी नित अपान प्राण में भस्म करें।
कुछ प्राण अपानों में फूकें फिर दोनों को अवरुद्ध करें॥२६॥
कुछ योगी भोजन कम खावें, प्राणों में प्राण मिलाते हैं।
यज्ञों से जिनके पाप नसें बस यज्ञ जान वह पाते हैं॥३०॥
इस यज्ञ शेष को जो खाते वह परं ब्रह्म को पाते हैं।
जो यज्ञ नहीं करते मूरख वह दोनों लोक गंवाते हैं॥ ३१॥
यह बहुत यज्ञ विस्तार सहित सब वेदों में बतलाये हैं।
कर्मों से पैदा होते हैं, ज्ञाता मुक्ती पद पाये हैं॥ ३२॥
जो यज्ञ द्रव्य से होता है, है ज्ञान-यज्ञ उत्तम उस से।
जितने भी कर्म जगत में हैं सब ज्ञान योग में आय बसे॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्यास योगो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

सेवा ज्ञानी पुरुषों की, आदर से पूछो प्रश्न सदा।
देश ज्ञान का वह देंगे यदि तुम से हों प्रसन्न सदा ॥३४॥
ज्ञान प्राप्त करके अर्जुन ! तू मोह पार हो जावेगा।
क को मुझ में अरु अपने में, यह विश्व नजर फिर आवेगा॥३५
तने ही तूने पाप किये, हो पापिन का सरताज अगर।
बैठ ज्ञान की नौका में सब पापों से जायेगा तर ॥३६॥

दोहा-ईंधन जलती आग में, भस्म यथा हो जाय।
वैसे ही ज्ञानाग्नि सब, कर्महिं देत जलाय ॥३७॥

हीं ज्ञान समान कहीं जग में कुछ भी पवित्र दिखलाता है।
छ काल बाद वह योगी की आत्मा में जाय समाता है ॥३८॥
त्पर हो, श्रद्धा वाला हो, अरु जीत इन्द्रियां लीं जिसने।
कर के ज्ञान अमर होवे सुख शांति सदा पा ली उस ने ॥३९॥
ज्ञानी, अश्रद्धा वाला और संशयात्मा नस जावे।
ह लोक नसे, परलोक नसे, वह नहीं कभी भी सुख पावे ॥४०॥
व कर्म योग से त्याग दिये अरु ज्ञान से काटा संशय को।
फिर कर्म नहीं बांधें अर्जुन! उस आतम ज्ञानी निर्भय को॥४१॥

दोहा-लेकर आश्रय योग का, कर में ज्ञान कटार।
उठ, मन का संशय मिटा, करके प्रबल प्रहार ॥४२॥

ज्ञान कर्म सन्यास योग नाम का
चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

अथ पंचमोऽध्यायः

(कर्म—संन्यास योग)

—**—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

श्री भगवान उवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः
प्रवदन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो
र्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं
तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च
यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

पांचवां अध्याय

(कर्म-सन्यास योग)

——**——

अर्जुन बोला—

"हे कृष्ण ! कर्म सन्यास कभी, फिर कर्म योग बतलाते हो।
इन दोनों में क्या अच्छा है क्यों ठीक नहीं समझाते हो ॥१॥

श्री भगवान उवाच—

अर्जुन ! दोनों हैं हितकारी यह कर्म योग संयासरना।
पर कर्म योग है श्रेष्ठ सखे! हितकर संन्यास नहीं उतना ॥२॥
नहिं द्वेष कामना है जिसमें तुम उसको संन्यासी जानो।
सब द्वन्द्वों से जो परे रहे, बस उसको मुक्त हुआ मानो ॥३॥

दोहा—ज्ञान योग अरु कर्म में, मूरख भेद बताय।
करे एक का मनन जो, दोनों का फल पाय॥

"हैं सांख्य, योग दो" मूढ़ कहें, पंडित कुछ भेद न पाते हैं।
आश्रय इक का भी लेकर नर दोनों का लाभ उठाते हैं ॥४॥
सांख्यों को स्थान मिले जैसा वैसा ही योगी पायेंगे।
जो ज्ञानी हैं इन दोनों में कुछ भेद नहीं बतलायेंगे॥

दोहा—सांख्य और योगी सदा, पाते हैं इक स्थान।
दोनों ही यह एक हैं, इनमें भेद न मान ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

तज कर्म योग सन्यास करे वह महावीर दुख पाता है।
पर योग युक्त प्राणी सहसा ब्रह्म में जाय समाता है ॥६॥

हो शुद्ध, वशी संयम वाला अरु कर्म योग में लगा हुआ।
सबको समझे अपने जैसा वह नहीं कर्म में कभी फंसा ॥७॥

वह देखे, सुने, छुवे, पूछे, ले सांस, चले अरु शयन करे।
पलकों को खोले, बन्द करे, बोले, त्यागे अरु ग्रहण करे ॥८॥

निज कर्म इन्द्रियां करती हैं नहीं ध्यान कभी इन में धरता।
मैं कुछ भी स्वयं न करता हूँ योगी मन में अनुभव करता ॥९॥

ईश्वर को अर्पण कर्म करे; पुनि उन में नित्य असक्त रहे।
वह पापी नहीं बने जैसे पंकज दल जल में शुष्क रहे ॥१०॥

तन से, मन से, मति से अथवा इन्द्रिन के द्वारा कर्म करे।
योगी तज ममता मोह [illegible] मलको नित्य हरे ॥११॥

कर्मों के फल को तज योगी नित परं शांति को पाता है।
जो त्याग नहीं फल का करता तो काम उसे बंधवता है ॥१२॥

मनसे सब कर्मों को तजकर नहिं कर्म करवें और करें।
नवद्वारमयी इस नगरी में सुख से इन्द्रिय, जित ठौर करें ॥१३

दोहा—कर्तापन को, कर्म को, कर्मफलों का मेल।
प्रभु इनको रचता नहीं, है स्वभाव के खेल ॥१४॥

नरके सत्कर्म, न पापों को प्रभुग्रहण नहीं करता कोई।
अज्ञान ज्ञान को ढक लेता, करता उसको मोहित सोई ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जो इस अज्ञान अंधेरे को नर ज्ञान दीप से नष्ट करे ।
जिमि सूर्य दिखाता चीजों को तिमि ज्ञान ब्रह्मको स्पष्ट करे ॥१६॥
मन बुद्धि लगावै ब्रह्मण में उस में ही तत्पर हो जावे।
हों पाप ज्ञान मे दूर किये वह नहीं लौट जग में आवे ॥१७॥
विद्वान व विनयी ब्राह्मण को, कुत्ते को, गौको, हाथी को।
पण्डित सब को सम जाने है, पुनि चाण्डाल से साथी को॥१८॥
यह सम्य बाद जिसने जाना जग को है जीत लिया उसने।
है ब्रह्मण सम वह निर्दोषी ब्राह्मण को पाय लिया उसने॥१६॥
प्रिय पाय प्रसन्न नहीं होवे अरु खिन्न न हो अप्रिय पाकर।
स्थिरमति हो मोह रहित होकर ब्रह्मणमें तुरत मिले जाकर॥२०॥
जो जग के विषयों में फंसकर आसक्त न हो सुख पाता है।
वह ब्रह्म योग में लगा हुआ अक्षय आनन्द मनाता है॥२१॥
यह इन्द्रिय भोग सभी अर्जुन नित दुःख के देने वाले हैं।
मतिमान नहीं इन में रमते यह सदा न रहने वाले हैं॥२२॥
मरने से पहिले जो प्राणी नित काम क्रोध का वेग सहे।
वह सुखो जगत में होता है, उसको योगी संसार कहे ॥२३॥
है आत्मा में आनन्दित वह मन में जिसमें उजियाला है।
जो अपने में है रमा हुआ वह ब्रह्म पाय मतवाला है॥२४॥
निष्पाप, संयमी, उपकारी, संशय जिनका है दूर हुआ।
वह परं ब्रह्म को पाते हैं पर हित में मन भरपूर हुआ ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगोनाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

हो काम क्रोध से दूर, यती, आत्मा को जिसने जान लिया।
ब्रह्म चहुँ ओर उसी के है उसने प्रभु को पहचान लिया ॥२६॥
जब प्राण अपान समान किया भीतर और बाहर रोक लगा।
आँखेंहीं भ्रकुटी बीच जभी हो दिया विषयको दूरभगा ॥२७॥
मन, इन्द्रिय मेधा को जीता हो ध्यान मुक्ति में लगा हुआ।
इच्छा-भय क्रोध रहित होकर नर बन्धन से वह मुक्त हुआ ॥२८॥

दोहा—यज्ञ तपों का भोक्ता, और सर्व लोकेश।
जगन्मित्र मुझ को समझ, मिट जायें तब क्लेश ॥२९॥

कर्म सन्यास योग नाम का पांचवां अध्याय समाप्त।

अथ षष्ठोऽध्याय

(आत्म संयम योग)

श्री भगवान उवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।१।।
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।२।।
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।३।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४।।
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।।
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७।।

छठा अध्याय

(आत्म संयम योग)

श्री भगवान ने कहा–

जो आश्रय कर्म फलों का तज कर्तव्य कर्म को करता है।
वह योगी है, सन्यासी है न कि वह जो यज्ञ न करता है ॥१॥

"सन्यास" जिसे कहते ज्ञानी उसको ही" योग" बताते हैं।
वह योगी कैसे होंगे जो संकल्प नहीं तज पाते हैं ॥२॥

योगी जो बनना चाहेंगे कर्मों के द्वारा बनते हैं।
पुनि योगारूढ़ भये, शम से मुक्ती का ताना तनते हैं ॥३॥

जो कर्मों में आसक्त न हों अरु विषयों से भी दूर रहें।
संकल्प सभी जो तज देवें ज्ञानी जन योगी उन्हें कहें ॥४॥

आत्मा को स्वयं उठा ऊपर नीचे न इसे फिर ले जावे।
नर बन्धु स्वयं अपना ही है दुश्मन भी अपना कहलावे ॥५॥

आत्मा को जीता आत्मा से तो वही बन्धु बन जाता है।
जो अपने वश में नहीं रहा फिर दुश्मन वही कहाता है ॥६॥

दोहा—सर्दी, गर्मी, सुख, दुख, और मान अपमान।
शान्त संयमी पुरुष को, सब हैं एक समान ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जो तृप्त हुआ है अनुभव से औ ज्ञानी है इन्द्रिय जेता।
पत्थर औ सोना एक उसे, वह योगी का आसन लेता ॥८॥
वैरी, मध्यस्थ, सुहृद, बन्धु जो उदासीन अरु द्वेषी को।
पुनि साधु दुष्ट को सम देखे वह नर अति उत्तम योगी हो॥९॥
संयम से आसरहित होकर जग के सुख संग्रह बन्द करे।
एकान्त स्थान में स्थित होकर योगी नित प्रभु का ध्यान धरे॥१०॥
रख शुद्ध स्थान में स्थिर आसन अति ऊंचा नीचा नहीं बने।
मृगछाला होय कुशासन पर अरु उस पर डालो वस्त्र घने ॥११॥
ऐसे आसन पर बैठ चित्त एकाग्र किया इन्द्रिय दम से।
तो शुद्ध आत्मा हो जावे यदि योग लगाय परिश्रम से ॥१२॥
तन ग्रीवा शीश समान रहैं पुनि अचल अवस्था को धारे।
चहुं ओर घुमावे आंख नहीं बस दृष्टि नासिका पर डारे॥१३॥
निर्भीक ब्रह्मचारी होकर मुझ में ही चित्त लगा होवे।
हो शान्त चित्त बस में करले वह योगी युक्त सदा होवे॥१४॥
जो चित्त रोक प्रभु को ध्यावे मुझ में रहकर सुख को पावे।
वह सुख मुक्ती का दाता है उससे आनन्दित हो जावे ॥१५॥
अति खाने से योगी न बने पुनि जो बिल्कुल नहिं खाता है।
अतिस्वप्नशील अरु जागरूक भी योगी नहीं कहाता है॥१६॥
जो भोजन में, वरतावे में, संयम से लेता काम सदा।
सोता जगता है नियम सहित, दुख से रहता उपराम सदा॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः
यत्रोपरमते चित्तं
निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं
पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२

ाश में चित्त करे अपना अरु आत्मा में रम जाता है।
ई कामना हीन वही नर योगी युक्त कहाता है ॥१८॥
ह जैसे निश्चल रहता होता जब पवन प्रवाह नहीं।
ही दशा उस योगी की भज ब्रह्म जिसे कुछ चाह नहीं ॥१९॥
हा—जिस प्राणी का योग से, चित्त करे उपराम।
अपने को पहिचान वह, पाय परं सुख धाम॥
हां योग बल के द्वारा मन शान्त हुआ निर्दोष है।
। अपने को जान लिया बस वही परं सन्तोषी है ॥२०॥
। सुख को योगी पाता है मति से ही वह जाना जावे।
न से दूर अनन्त है वह, योगी न कभी डिगने पावे ॥२१॥
लाभ मिले जिस योगी को कुछ और न अच्छा लगता है।
इसी अवस्था को पा कर वह दुख से नहीं विचलता है ॥२२॥
के कष्टों का नाम नहीं जिसमें वह "योग" कहाता है।
य से चित्त लगा करके मतिमान उसे ही पाता है ॥२३॥
ल्प जनित सब कामों का नर पूर्ण रूप से त्याग करे।
रोक इन्द्रियों को रोके सब विषयों का परित्याग करे ॥२४॥
। धैर्य-युक्त हो निज मति से मन को आत्मा में ठहरावे।
धीरे २ शान्त-चित्त, प्रभु को तज और न कुछ ध्यावे ॥२५॥
चञ्चल अस्थिर मन तेरा जिस ओर फिसल कर जाता हो।
: उसी ओर से रोक उसे तू अपने बस में लाता हो ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्व भूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामिचञ्चलत्वास्थितिं स्थिराम् ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

श्री भगवान उवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

न्त चित्त उस योगी का जिसने पापों को मार दिया।
न ब्रह्म में लीन हुआ सुख पा अपना उद्धार किया ॥२७॥
गी पाप रहित होकर आत्मा को युक्त बनाता है।
र ब्रह्म को पाकर वह अत्यन्त सुखों को पाता है ॥२८॥
अपने को लोगों में अरु उनको अपने में देखे।
समदर्शी होता है सर्वत्र सभी को सम देखे ॥२९॥
मुझे जो देखे है मुझ में सब कुछ लख पाता है।
हेतु सदा मैं जीता हूँ, वह नहीं नाश को पाता है ॥३०॥
इ-समदर्शी मुझ के भजे, सर्व-भूत-स्थित जान।
जहाँ कहीं भी वह चले, रमता मुझ में आन ॥३१॥
ी उपमा से हे अर्जुन! जो समान देखता है सबको।
दुख को एक समझता है वह पाता है योगी-पद को ॥३२॥

अर्जुन बोला—

न बोला "माधव तुमने यह साम्य-योग जो बतलाया।
के अति चञ्चल होने से स्थिति इसकी नहीं समझ पाया ॥३३॥
ष्णा! चित्त चञ्चल है यह बलवान हठी अरु पक्का है।
ते कठिन इसे वंश में करना जैसे आंधी का धक्का है ॥३४॥

श्री कृष्ण का उत्तर—

र्जुन! तुम ठीक बताते हो मन वश में करना सुगम नहीं।
ाग्य और अभ्यास सहित वश में होना पर कठिन नहीं ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३

श्री भगवान उवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् गतिं तात गच्छति ॥४
प्राप्य पुण्यकृतांलोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

न जिसका वंश में हुआ नहीं वह योग कभी नहिं पावेगा।
यम वाला यदि यत्न करे संभव है युक्त कहावेगा ॥३६॥

अर्जुन ने पूछा—

अर्जुन बोला "श्रद्धा वाला वश हीन योग से डिग जावे।
दि योगी नहीं बने माधव! तब कौन गती को वह पावे ॥३७॥
या टूटे बादल के समान दोनों पथ से डिग जाता है।
ग भी त्यागे नहिं ईश मिले क्या आश्रय हीन कहाता है ॥३८॥
मेरे मन में सन्देश उठा तुम दूर करो हे कृष्ण! हरे!।
तुमसे अतिरिक्त नहीं कोई संभव है इसको दूर करे" ॥३९॥

श्री कृष्ण ने उत्तर दिया—

श्री कृष्ण कहे हे पार्थ! नहीं वह नर विनाश को पाता है।
शुभ कर्म तनिक भी जो करता वह घाटा नहीं उठाता है ॥४०॥
जो योग-भ्रष्ट हो जाता है पुण्यात्मा की योनी पावे।
चिर काल उसी में रहता है फिर किसी धनी के घर आवे ॥४१॥

दोहा—अथवा लेता जन्म है, योगी के घर आन।
जग में ऐसा जन्म भी, है अति कठिन महान ॥४२॥

फिर वहां पूर्व संस्कारों से वह बुद्धि योग को पाता है।
पुनियोग सिद्धि का लक्ष्य बना फिर से वह जोर लगाता है ॥४३॥
पहले अभ्यास सहित वह नर हो विवश योग की ओर बढ़े।
पुनि योग ज्ञान का लक्ष्य बना वह शब्द ज्ञान को पार करे ॥४४॥

जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम
षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

दोहा—उसी पूर्व अभ्यास से चले योग के धाम।
करे पार जिज्ञासु भी वेदिक कर्म सकाम ॥ ४४ ॥

इस प्रकार यत्न करने वाला योगी निज पाप मिटाता है।
पुनि जन्म जन्म की सिद्धि से वह परम गती को पाता है ॥४५

तप करने वालों से अर्जुन ! फल युक्त कर्म वालों से भी।
ज्ञानी से भी योगी उत्तम इस कारण तू बन जा योगी ॥४६॥

दोहा—मुझको भजता नित्य जो, श्रद्धा से कर ध्यान।
सब योगिन में उसी का करता हूँ मैं मान ॥ ४७ ॥

आत्मसंयमयोग नाम का छठा अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

(ज्ञान विज्ञान योग)

श्रीभगवान उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः
खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

सातवाँ अध्याय

(ज्ञान विज्ञान योग)

—****—

श्रीकृष्ण उवाच—

मुझ में आसक्त हुआ अर्जुन ! यदि मेरे द्वारा योग करे ।
वह ज्ञान सुनाता हूँ जिससे मुझको जाने, शक, दूर करे ॥ १ ॥
मैं पूर्ण ज्ञान विज्ञान तुझे सब भली भांति समझाता हूँ ।
जिसको जाने कुछ शेष नहीं वह ज्ञान तुझे बतलाता हूँ ॥२॥
नर कोई सहस्रों में बिरला इक यत्न सिद्धि के लिये करे ।
पुनि उन में भी बिरला कोई मम रूप जान निज कष्ट हरे ॥३॥

दोहा—अग्नि वायु जल बुद्धि मन, पृथ्वी औ आकाश ।
अहंकार इन आठ से, मेरा होय प्रकाश ॥

पृथ्वी, जल, आग, पवन, मेधा, मन, अहंकार, आकाश सखे !
मेरी प्रकृति का आठों से होता है नित्य प्रकाश सखे ॥ ४ ॥
अपरा प्रकृति यह कहलावे, अरु दूजी परा कहाती है ।
वह जीव रूप है हे अर्जुन ! सब जग का भार उठाती है ॥५॥
इन दोनों ही से सब प्राणी इस जग में पैदा होते हैं ।
उत्पन्न सभी मुझ से होते पुनि लोप मुझी में होते हैं ॥६॥

मत्तः परतरं नान्य-
त्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं
सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावै-
रेभिः सर्व मिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति
मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

झ से कुछ श्रेष्ट नहीं अर्जुन ! इक उपमा से समझाऊं तुम्हें ।
णियां धागे में गुथीं रहें त्यों जगत पिरोया है मुझ में ॥

दोहा—मुझ से अच्छा कुछ नहीं, माला में मणि होय ।
इस प्रकार मुझ में सखे ! दीन्हां विश्व पिरोय ॥ ७॥

जल में रस जानो मुझे सदा रवि चन्द्र प्रकाशित हैं मुझ में ।
वेदों में ओम्, नरों में मैं पुरुषत्व, शब्द हूँ मैं नभ में ॥ ८ ॥

पृथ्वी में गंध कहाता हूँ, अग्नी में तेज मुझे जानो ।
सब भूतों में मैं जीवन हूँ, तपियों में तप मुझ को मानो ॥९॥

पुरुषों का कारण मैं ही हूँ मतिमान बुद्धि मुझ से धारें ।
तेजस्वी का हूँ तेज सखे सब ज्ञानी जन यह उच्चारें ॥ १० ॥

बलवानों में बल मेरा है जो काम राग से छुआ नहीं ।
वह काम जगत में मैं अर्जुन जो धर्म से होवे हटा नहीं ॥११॥

सद्भाव राज सो भाव यहां मैं तामस भाव बनाता हूँ ।
यह मुझसे हैं, यह मुझ में हैं, मैं उनमें स्थान न पाता हूँ ॥१२॥

इन तीनों गुणमय भावों से यह जग बहकाया जाता है ।
मैं अव्यय हूँ, अविनाशी हूँ जग जान नहीं यह पाता है ॥

दोहा—तीनों गुणमय भाव से, जग बहकाया जाय ।
मुझ अविनाशी ब्रह्म को, इस से जान न पाय ॥१३॥

अति अद्भुत मेरी माया यह है अगम तीन गुण युक्त सखे ।
जो प्राणी नित्य मुझे भजते भव पार करें हों मुक्त सखे ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते
ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति
स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां
तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

कर्मी, मूढ नराधम हैं जो नहीं मुझे नर भजते हैं।
या ने ज्ञान हरा उनका नहिं भाव आसुरी तजते हैं ॥१५॥
चार तरह के नर अर्जुन! मुझ को हैं नित भजने वाले।
नी जिज्ञासु, अर्थार्थी अरु पीड़ित शुभ करने वाले ॥१६॥
में ज्ञानी ही उत्तम है समदर्शी युक्त सदा रहता।
मेरा आदर करता है अरु मैं उसको प्यारा कहता ॥१७॥
तो चारों ही अच्छे हैं पर ज्ञानी को निज रूप कहूँ।
युक्त हुआ मुझको भजता उसकी उत्तमगति में ही हूँ ॥१८॥

दोहा-बहु जन्मों के अन्त में, ज्ञानी मुझको पाय।
वासुदेव सब जगत है, यही चित्त में लाय॥

जन्म पाय मुझको अर्जुन, ज्ञानी जन मुझको पाता है।
वासुदेव मय जग देखे वह दुर्लभ जग में आता है ॥१९॥
व ज्ञान कामना में खोया बहु देवों को वह भजते हैं।
ज प्रकृति द्वारा बंधे हुये वह उसी नियम पर चलते हैं ॥२०
किसी देवता की जग में श्रद्धा से पूजा करता है।
मेरे द्वारा ही उसमें निश्चल श्रद्धा को धरता है ॥२१॥
व श्रद्धा से वह युक्त हुआ नित उसी देव का ध्यान धरे।
रे निर्माण किये इच्छित भोगों का सेवन नित्य करे ॥२२॥

दोहा-मन्द बुद्धि ऐसा पुरुष नाशवान फल पाय।
देव भक्त मिलि देव में, मेरा भक्त मुझ में आय।

देवान्देवयजो यान्ति
मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥:
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्री मद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

तिमन्द पुरुष जग में नित नाशवान फल पाते हैं।
ह भक्त मिलें उन में, मम भक्त मुझे पा जाते हैं ॥२३॥
अव्यक्त मुझे मूरख भ्रमवश नित व्यक्त समझते हैं।
ाम अव्यय भाव मेरा मति हीन नहीं लख सकते हैं ॥२४॥
माया द्वारा छिपा हुआ मैं स्पष्ट नजर नहिं आता हूँ।
पहिचान नहीं सकते अविनाशी अज कहलाता हूँ ॥२५॥
ई पुरुष हो गुजरे हैं, अरु विद्यमान जो हैं जग में।
ो आगे होंगे सब को मैं जानूं मुझे न वे जानें ॥२६॥
हल में सारे प्राणी नित, इच्छा द्वेष वशी होकर।
से मूढ़ हुये अर्जुन! अरु अन्धकार में रहे विचर॥
ा-जग में इच्छा द्वेष से, होय द्वन्द्व उत्पन्न।
जिससे मोहित हुए नर, रहें न मूढ़ प्रसन्न ॥२७॥
य कर्म करने वाले जो अपने पाप नसाते हैं।
द्व मोह से मुक्त हुये दृढ़ व्रती मुझे ही पाते हैं ॥२८॥
रे आश्रय हो करके वे जरा मरण से हीन हुये।
त्कर्म व ब्रह्म को आध्यात्म ज्ञान में लीन हुये ॥२९॥
ृत मुझे, अधिदैव मुझे, अधियज्ञ मुझे जो जानेगा।
णी अन्त समय में भी बस मुझको ही पहिचानेगा॥
ा-अधिदैव यज्ञ-भूत जो, लेता मुझ को जान।
अन्त समय में भी सदा, मुझ को ले पहिचान ॥३०॥
ज्ञान विज्ञानयोग नाम का सातवां अध्याय समाप्त॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

(अक्षर ब्रह्म योग)

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

श्री भगवान उवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

❀ आठवाँ अध्याय ❀

(अक्षर ब्रह्म योग)

अर्जुन का प्रश्न—

न बोला यह ब्रह्म कर्म अध्यात्म और अधिभूत है क्या।
दैव पुनः क्या होता है, दो भली भाँति मुझको समझा ॥१॥
यज्ञ किसे कहते माधव ! वह तन में कैसे बसता है।
फिर अन्त समय कैसे तुमको हे कृष्ण ! समझता है॥२॥

श्री कृष्ण का उत्तर—

नाशी 'ब्रह्म' कहाता है 'अध्यात्म' स्वभाव सदा जानो।
सुन्दर सृष्टी की रचना बस 'कर्म' यही उसका मानो ॥३॥
भूत वही जो नश्वर है अधिदैव जीव कहलाता है।
अधियज्ञ नरों में हूं मतिमान समझ यह पाता है ॥४॥
अन्त समय भजता मुझको तन त्याग विश्व से जाता है।
प्राप्त करे मुझको प्राणी इसमें सन्देह न आता ! है ॥५॥
अन्त समय अपने मन में जिस किसी भाव का ध्यान धरे।
भाव सहित हे अर्जुन ! वह बस उसी भाव में ध्यान धरे ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन
चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं
याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८॥

कविंपुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ६॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परंपुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितोयोगधारणाम् ॥१२॥

इसे सदा तू भज मुझको अरु लड़ने हेतु खड़ा हो जा।
य मुझको ही पावेगा मन मुझको दे, मेरा हो जा ॥७॥
गस योग से युक्त हुआ मन जिसका नहीं भटकता है।
र में नित्य लगा अर्जुन ! वह परं ब्रह्म पा सकता है ॥
हा—मन जिसका भटके नहीं, करके नित अभ्यास।
ईश अग्न पहुंचे तभी, परं ब्रह्म के पास ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ अनादी शासक जो
अति सूक्ष्म विधाता सब का है।
रवि-सम तम-हीन अचिन्त्य सदा
उस में लगता मन जिसका है ॥९॥

पुनि अन्त समय निश्चलमन से
हो भक्तियुक्त अरु योग धरे।
भ्रकुटी में प्राण जमाय रहे
वह परम पुरुष को प्राप्त करे ॥१०॥

वर्णन संक्षिप्त करूं उसका
वेदज्ञ जिसे "अक्षर" कहते।
हो ब्रह्मचारि जिसके द्वारा मुनि
वैरागी जिसमें रहते ॥ ११ ॥

व द्वार रोक मन हृदय बीच मस्तक में प्राण जमा करके।
रु समाधिस्थ हो करके तू कर ओम् नामका जाप सखे ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याह[illegible] ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२

हर को जपने वाला जो मुझे याद कर लेता है।
भांति देह जो त्याग करे वह मोक्ष तभी पा लेता है ॥१३॥
अविचित्त को करके जो मेरा ही हरदम ध्यान करे।
; मैं जो मुक्त हुआ योगी मुझसे वह रहता नहीं परे ॥१४॥
पुनर्जन्म दुःख का घर है अरु शीघ्र नष्ट हो जाता है।
सिद्ध मुझे पा लेता है वह पुनर्जन्म नहीं पाता है ॥१५॥
ा ब्रह्म लोक से लेकरके सब लोक लौट फिर आते हैं।
मुझ को जब पा जाते हैं बसवहीं सदा रम जाते हैं ॥१६॥
ह्मा का दिवस युगों का है तिमि रात सहस्रों युग जानो।
इ कालतत्व जाना जिसने तुम योगीजन उसकोमानो ॥१७॥
न आने पर अव्यक्त पुरुष सब स्पष्ट प्रगट हो जाते हैं।
नि रात भये अदृश्य हुए अव्यक्त पुनः कहलाते हैं ॥१८॥
त तरह भूत समुदाय सदा पैदा होता है, मरता है।
दृश्य रात को हो जाता दिन में तन धारण करता है ॥१९॥
दृश्य भूत गण से ऊपर कुछ अन्य भाव अस्पष्ट हुआ।
ब भूतों के नस जाने पर वह नहीं कभी है नष्ट हुआ ॥२०॥
क्षर अव्यक्त जिसे कहते वह परं मोक्ष कहलाता है।
स परम धाम को पाकर नर नहीं लौट जगत में आता है ॥२१॥
एकाग्र चित्त जो भक्ति करे वह उसी ब्रह्म को पा जावे।
जिसके अन्दर सब भूत बसें जो सब भूमण्डलपर छावे ॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नाम अष्टमोऽध्यायः ।

उ काल सुयोगी त्याग देह नहिं लौट यहां फिर आते हैं।
सकाल यहांमरकर लौटें हम सभी तुम्हें समझाते हैं ॥२३॥
न आग उजाला शुक्लपक्ष उत्तर पथ के छः मास सखे!
ब्रह्म मरे भर इसी समय वह जाय ब्रह्मके पास सखे! ॥२४॥
निशात धुआँ अरु कृष्ण पक्ष दक्षिण पथ के छः मास जहां।
मर में मर कर जा चन्द्रलोक आकर पावे भव त्रास यहां ॥२५॥
ह शुक्र कृष्ण गति दोही हैं जो सदा सनातन मानी है।
हली में आत्मा मुक्त रहे, दूजी में आनी जानी है ॥२६॥
वह दोनों जो योगी जाने वह कभी मोह नहिं पाता है।
तुम योगी सदा बनो अर्जुन! योगी आनन्द उठाता है ॥२७॥

दोहा—वेद यज्ञ, तप, दान से, उत्तम फल मिल जाय।
योगी उससे भी भला, परं ब्रह्म पद पाय॥

अक्षर ब्रह्म योग नाम का आठवां अध्याय समाप्त॥

अथ नवमोऽध्यायः

(राजविद्या राजगुह्ययोग)

(भक्ति की महिमा)

श्री भगवान उवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं
प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्-
ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

नवां अध्याय

(राज विद्या राज गुह्य योग)

भक्ति की महिमा

श्री कृष्ण बोले—

दोहा—द्वेष रहित हो तुम सुनो, कहूं ज्ञान विज्ञान।
जातें दुख से युक्त हो, और मिटे अज्ञान॥
द्वेष नहीं करते अर्जुन ! विज्ञान ज्ञान बतलाता हूँ।
सब छूट सभी जायें तेरे वह गुप्त भेद समझाता हूँ॥१॥
सब विद्याओं का राजा है अति उत्तम गुप्त विमल जानो।
फल उसका है प्रत्यक्ष सदा, है धर्म सुखद अव्यय मानो॥२॥
श्रद्धा इसमें जो नर न धरे, हे पार्थ! नहीं मुझको पाते।
इस मृत्यु लोक में भ्रमण करें वह बारम्बार यहां आते॥३॥
मैं हूँ अव्यक्त जगत, सारा मुझ से परिपूर्ण बताते हैं।
मैं तो भूतों में रहूँ नहीं, मुझ में सब भूत समाते हैं॥४॥
वास्तव में भूत नहीं मुझ में यह खेल योग का जानो तुम।
उत्पन्न करूं, पालूं सबको, पर रहूँ न उनमें मानो तुम॥५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥
न च मां तानि कर्माणि,
निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं
तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

मैं जिमि पवन समाया है वह नित सर्वत्र विचरता है।
भांति सभी प्राणी मुझ से, ज्ञानी मन में यह धरता है॥६॥
। अन्त कल्प का होता है नर मेरी प्रकृति को पाते।
रम्भ कल्प के होने पर मुझ से हैं जन्म पुनः पाते।॥७॥
कृति में अपनी छिपा हुआ मैं बार बार उपजाता हूँ
तन्त्र हुए सब भूतों को कर्मों का फल दिलवाता हूँ॥८॥
र्मों में स्वयं नहीं फंसता नित उदासीन ही रहता हूँ।
। कर्म नहीं बाँधें मुझ को होकर असक्त सब सहता हूँ॥

दोहा—उदासीन नित मैं रहूँ, हो कर सदा असक्त।
कर्म मुझे नहीं बांधते, सुनो पार्थ! मम भक्त॥९॥

मुझसे पाकर आदेश प्रकृति रचती है विश्व चराचर को।
हे अर्जुन! इससे जग पाता आने जाने के चक्कर को॥१०॥
सब भूतों का मैं ईश्वर हूं यह भाव नहीं पहिचाना है।
नर मूढ़ निरादर करते हैं तन धारी मुझको जाना है॥११॥
सब वृथा गई आशा उनकी अरु कर्म ज्ञान से हीन हुए।
वे नर मोहित करने वाले तम के स्वभाव में लीन हुए॥१२॥
पर महान आत्मा वाले नर दैवी स्वभाव को पाते हैं।
मुझ अव्यय का सिमरण करते मुझ में ही ध्यान लगाते हैं॥१३॥
दृढ़ व्रत वाले जो यत्न करें गुण-कीर्तन मेरा करते हैं।
वे भक्त प्रणाम करें मुझको नित ध्यान मुझी में धरते हैं॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी
निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं
निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं
निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च
सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

द्रव्यज्ञान-यज्ञ के द्वारा ही, मुझ विश्व-रूप को भजते हैं ।
इक कहें, कुछ पृथक कहें, मुझको बहु भाँति समझते हैं ॥१५॥
पूजा हूं, मैं यज्ञ, स्वधा, औषधि अरु मन्त्र कहाता हूं ।
आग हवन में भी मैं हूं इन सबमें आप समाता हूं ॥१६॥
जगत्पिता अरु माता हूं, दादा हूं, सबको मैं पालूं ।
शुद्ध ज्ञान ओंकार सदा ऋक् साम यजुर में भी मैं हूं ॥१७॥
की गति हूं, मैं पालक हूं, सब का स्वामी कहलाता हूं ।
भला बुरा देखनहारा, मैं जग में प्रलय मचाता हूं ॥
उत्पन्न करूं फिर से जगको, मैं शरण, निवास, निधान सखे !
मित्र सभी का हितचिंतक, अविनाशी, बीज महान सखे ! ॥१८॥
मैं धूप सभी को देता हूं, वर्षा रोकूं अरु बरसाऊं ।
मैं अमृत हूं अरु मौत सदा, सत और असत मैं कहलाऊं ॥

दोहा—सूरज हूं मैं वारि, का, करूं ग्रहण औ त्याग ।
मृत्यु और अमृत सदा सत्य असत बहु भाग ॥१९॥

जो स्वर्ग लोक की इच्छा से
त्रैविद्य सोमपा यजन करें ।
सुर लोक जाय वे सुख भोगें
जो निष्पापी मम भजन करें ॥२०॥
उस महा स्वर्ग में रहें सुखी
जब तक सत्कर्म नसावें हैं ।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेयतत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु
न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या
मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

यूं वेद कथित जो कर्म करें
इस जग में आते जाते हैं ॥२१॥

छ और बिना सोचे जो नर बस ध्यान मुझी में धरते हैं।
म ऐसे योगी पुरुषों का निर्वाह जगत में करते हैं ॥२२॥

ो अन्य देवता को पूजें श्रद्धा से भक्ति सहित मन की।
ह भी मुझको ही भजते हैं पर है विधि हीन क्रिया उनकी।२३।

ब यज्ञों को खाने-वाला मैं स्वामी उनका कहलाता।
जो नर यह तत्व नहीं जाने वह बारम्बार जनम पाता ॥२४॥

देवों को पावें देव व्रती, पितरों का पूजें पितर मिलें।
पुनि भूतमिलें जो उन्हें भजें, मम भक्त मिलें आकर मुझमें।२५॥

जो पत्र, पुष्प अरु फल पानी भक्ती से मुझको है देता।
मैं प्रेम सहित लेता हूं सब वह मुझको अपना कर लेता ॥२६॥

जो तू करता, जो कुछ खाता जो, दान करे, जो हवन करे।
पुनि जोकुछ त्यागकरे अर्जुन! वहसब मुझको अर्पण करदे।२७।

सन्यास योग में लगा हुआ इस भांति मुक्त हो जावेगा।
कर्मों के फल में नहीं बंधा निश्चय से मुझ को पावेगा ॥२८॥

व्यापक समरूप सभी में हूं कोई मम शत्रु न प्यारा है।
जो भजे मुझे वह मुझ में है, उनमें यह जीव हमारा है॥

दोहा—भूतों में सम भाव से, मैं ही रहा समाय।
मित्र, शत्रु मेरे नहीं, भक्त मुझी में आय ॥२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या राजगुह्ययोगो
नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

कोई दुष्ट दुराचारी एकाग्रचित्त से भजे मुझे।
कहो उसको, उसका संकल्प ठीक ही लगे मुझे ॥३०॥
ा जल्दी होता है वह परम शान्ति को पाता है।
के पुत्र ! समझ लो तुम नहिं मेरा भक्त नसाता है॥३१॥
य, शूद्र अथवा नारी, औ अन्य पाप योनी वाले।
ी शरण पकड़ लेवे वह निश्चय परम गती पा ले ॥३२॥
ाह्मण का कहना ही क्या हो पुण्यशील जो भक्त सखे।
रूप विनाशी जग में तू मुझको भजकर हो मुक्त सखे॥३३॥
—मुझ में मन दो, भक्त हो, पूजो, करो प्रणाम।
इस प्रकार मुझमें रमो, पहुंचोगे मम धाम ॥ ३४॥

राज विद्या राज गुह्य योग नाम का नवां अध्याय समाप्त ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

(विभूति योग)

श्री भगवान उवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१

न मे विदुःसुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाँ च सर्वशः ॥२

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६

[illegible] अध्याय

(विभूति योग)

श्री भगवान बोले—

हा-कृष्ण कहे अर्जुन ! सुनो, हितकारी उपदेश।
परम गूढ़ यह बचन है, होवे ज्ञान विशेष ॥१॥

देव महा ऋषि भी जग में मेरी उत्पत्ति नहीं जानें।
आदि भूत हूं भूतों का वह रूप मेरा कब पहचानें ॥२॥

मुझे अजन्मा आदि रहित लोगों का ईश्वर कहता है।
यों में मोह रहित होकर वह मुक्त पाप से रहता है ॥३॥

म,सत्य;क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, अरु जन्म, मरण सुख दुख सारे।
। बुद्धि ज्ञान, भयअभय जिन्हें, नहिं मोह पास में फटकारे ॥४॥

श, अपयश, दान, अहिंसा, तप, समता, संतोष रहे मन में।
भसे ही होते हैं अर्जुन ! यह भिन्न भाव सब भूतन में ॥५॥

ह सात महा ऋषि, चार वृद्ध, मनु की सन्तान जगत सारा।
ह मेरे भावों वाले हैं, मेरा संकल्प रचन द्वारा ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्‌गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थ

महमज्ञानजं तमः

नाशयाम्यात्मभावस्थो

ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

इस मेरी विभूति को जो नर निज योग तत्त्व से लख पाते ।
सन्देह नहीं इसमें कुछ भी वह निश्चल योगी हो जाते ॥७॥
मैं सब को पैदा करता हूँ, मुझ से ही जग में हलचल है।
यह जान मुझे भजते प्राणी जिनका मन होता निर्मल है ॥८॥
मुझ में जो चित रमाते हैं अरु प्राण मुझे अर्पण करते।
आनन्दित हो मुझ में रमते जो भक्त मेरा कीर्तन करते ॥९॥
वे लगातार मुझ को ध्याते अरु सच्चा प्रेम दिखाते हैं।
मैं ज्ञान योग उनको देता जिससे मुझ को पा जाते हैं ॥१०॥
उन के मन में मैं बसता हूँ अरु कृपा उन्हीं पर करता हूँ।
नित ज्ञान दीप की ज्वाला से अज्ञान अन्धेरा हरता हूँ ॥

दोहा—उनके मन में पैठ मैं, करता दया महान।
ज्ञान दीप की ज्योति से, करूँ नष्ट अज्ञान ॥११॥

अर्जुन का उत्तर-

अर्जुन बोला "हो परमब्रह्म तुम परम धाम अति पावन हो।
सब ऋषी देव अरु तुम्हें कहें तुम दैवीपुरुष सनातन हो ॥१२॥
ऋषि जन सब यही कहें तुमको देवर्षी नारद यही कहें।
देवल अरु व्यास असित सारे अरु स्वयं आपनी यही कहें ॥१३॥
जो कुछ भी तुमने अभी कहा वह बिलकुल सत्य उचारा है।
दानव अरु देव नहीं जानें जो असली रूप तुम्हारा है ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

श्रीभगवान-उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥
अहमात्मा गुडाकेश
सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च
भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

भूतों को पैदा करते हो देवों के देव जगतकर्ता।
पुरुषोत्तम हो भूतेश तुम्हीं हो आप स्वयं अपने ज्ञाता ॥१५॥
तुम जिन विभूतियों के द्वारा इन सब लोगों पर छाते हो।
वह दिव्य विभूति तुम अपनी क्यों हमें नहीं बतलाते हो ॥१६
तेरा नित चिन्तन करके भी तुझ योगी को कैसे जानूं।
किन भागों से मैं ध्यान धरूं मैं कैसे तुझ को पहिचानूं ॥१७॥
निज बल को और विभूती को विस्तारपूर्वक पुनः कहा।
तेरी इस अमृत वाणी से हे कृष्ण ! तृप्ति मम कभी न हो ॥१८

श्री भगवान बोले—

बोले श्रीकृष्ण विभूतिन का विस्तार नहीं बतला सकता।
हैं मुख्य विभूती जो मेरी उन का ही मैं वर्णन करता ॥१६॥
हे गुडाकेश ! सब पुरुषों के मन में आत्मा बस मैं ही हूँ।
हूँ आदि, मध्य सब भूतों का अरु अन्त उन्हीं का मैं ही हूँ ॥

दोहा—सब पुरुषों के हृदय में, आत्मा हूँ बलवान !
सब भूत का हूँ सखे ! आदि, मध्य, अवसान ॥२०
आदित्यों में हूँ विष्णु तथा तेजोमय सूरज ज्योतिन में।
मैं हूँ मरीचि मारुतगण में हूँ चन्द्र सखे ! नक्षत्रन में ॥२१॥
वेदों में साम मुझे जानो देवों में वासव कहलाता।
इन्द्रिन में मन भी मैं ही हूँ नर में चेतन मैं बन जाता ॥२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणः यादसामहं ।
पितॄणामर्यमाचास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां
कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं
वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

रुद्रों में शंकर मुझे कहो, हूँ कुबेर यक्ष औ वसुओं में।
वसुओं में आग कहाता हूँ मेरु पर्वत हूँ शिखरों में ॥ २३॥
मैं पुरोहितों में "बृहस्पती" हूँ मुख्य पुरोहित कहलाता।
'कार्तिक' हूँ सेनापतियों में, सर में 'सागर' पदवी पाता॥२४॥
ऋषियों में 'भृगू' मुझे जानो, वाणी में "ओ३म्" कहाता हूँ।
जप-यज्ञ सदा यज्ञों में हूँ, नग में हिमगिरि कहलाता हूँ ॥२५॥
वृक्षों में पीपल मुझे कहो, देवर्षिन में नारद जानो।
गन्धर्वों में हूँ 'चित्ररथ' सिद्धों में 'कपिल' मुझे मान. ॥२६॥
जो अमृत से उत्पन्न हुआ घोड़ों में उच्चैःश्रवा कहो।
'ऐरावत' सभी गजों में हूँ पुरुषों में राजा मुझे कहो ॥२७॥
हूँ हथियारों में 'वज्र' बली, अरु काम धेनु गायों में हूँ।
बन 'काम देव' मैं सृष्टि रचूँ पुनि वासुकि सब सर्पों में हूँ॥२८॥
नागों में हूँ मैं 'शेषनाग', जलचर में 'वरुण' मुझे जानो।
मैं बना अर्यमा पितरों में, 'यमराज' शासकों में मानो ॥२९॥
गिनने वालों में काल सदा, प्रह्लाद भक्त दैत्यों में हूँ।
पशुओं में सिंह कहाता हूँ अरू गरुड़ पक्षियों में मैं हूँ ॥

दोहा—दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गिनन हार में काल।
पशुओं में मैं सिंह हूँ, पक्षिन गरुड़ सभाल। ३०॥

मैं शस्त्र धुनों में 'परशुराम हूँ पवन सुपावन करिन में।
नदियों में गंगा कहलाऊँ, हूँ मगरमच्छ जलचरिन में॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

आरम्भ जगत का हूँ ! अर्जुन अरू मध्य, अन्त भी पहिचानो।
विद्याओं में 'अध्यात्म' सदा वक्तन में 'वाद' मुझे मानो ॥३२॥
हूँ अकार अक्षर में मैं पुनि 'द्वन्द' समासों में मैं हूँ ।
अरु काल सदा मैं अविनाशी, व्यापक हूँ, धारण करता हूँ ॥३३॥
होने वालों का कारण हूँ हूँ मौत सभी हरने वाली ।
'मति' कीर्ति वाक श्री स्मृती क्षमा धीरज धरने वाली ॥३४॥
'हूँ साम गान में 'वृहत्' सदा छन्दों में 'गायत्री' मैं हूँ ।
'मंगसिर हूँ बारहमासों में 'कुसुमाकर' ऋतुओं में मैं हूँ ॥३५॥
छल करने वालों में 'जूआ' तेजस्वी का हूँ तेज सखे !
जय' मैं हूँ 'निश्चय' भी मैं हूँ सात्विक का सत्य विशेष सखे ॥३६
हूँ वासुदेव वृष्णी कुल में अरू पाण्डव में धनजय जानो ।
मुनि व्यास नित्य हूं मुनियों मेंकवियों में, उशनापहिचानो॥३७॥
मैं नीति विजेताओं की हूँ ! शासक का 'दण्ड' कहाता हूँ ।
मैं 'मौन' गुप्त भेदों में मैं, ज्ञानी को ज्ञान बताता हूँ ॥३८॥
मुझ से उत्पन्न सभी नर हैं अर्जुन ! तुझ को बतलाऊँ मैं ।
मुझ बिना चराचर जगत नहीं, यह भेद तुम्हें समझाऊँ मैं ॥३९॥
इन मेरी दिव्य विभूतिन का कुछ अन्त नहीं जग ने पाया ।
उसका कुछ सार तुम्हें अर्जुन ! दृष्टान्त रूप से बतलाया ॥४०॥
ऐश्वर्य युक्त लक्ष्मी वाला अरु शक्ति युक्त जो कुछ जग में ।
यह सब उत्पन्न मुझी से है मम तेज अंश है उन सब में ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

दोहा–अर्जुन ! करना है वृथा, और अधिक विस्तार ।
मेरा तो इक अंश ही, पूर्ण जगत आधार ॥४२॥

विभूति योग नाम का दसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

(विश्वरूप दर्शन योग)

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

ग्यारहवां अध्याय

(विश्व रूप दर्शन योग)

अर्जुन ने कहा—

अर्जुन बोला भगवन ! तुमने अध्यात्म ज्ञान बतलाया है।
मुझसे अति मधुर बचन कह कर मेरा सब मोह हटाया है ॥१॥
उत्पत्ती और प्रलय कारण सब भली भांति समझाया है।
हे कमल-पत्र-आंखों वाले ! अक्षय माहात्म्य बताया है ॥२॥
निज को परमेश्वर कहते हो, मैं सत्य मानता हूँ इसको।
वह रूप ईश्वरी दिखलाओ, इच्छा मेरी देखूं उसको ॥३॥
यदि आप जानते हैं स्वामी वह रूप देख मैं सकता हूँ।
अविनाशी रूप दिखाओ अब योगेश ! विनय मैं करता हूँ ॥४॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

हे पार्थ ! देख तू रूप मेरे हैं भिन्न भिन्न रंगों वाले।
वह दिव्य अनूपम हैं अनेक रूपों वाले, वर्णों वाले ॥५॥
आदित्य, रुद्र, वसु, अश्विन,को मरुतोंको भारत ! देख अभी।
पहिले जो कभी नहीं देखे आश्चर्य सभी तू देख अभी ॥६॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

देख सभी चराचर जगत को, देख मेरे तन मांहि।
गुडाकेश ! तू पूर्ण कर जो इच्छा मन मांहि॥
पर इन साधारण नेत्रों से नहिं रूप देख तू पाएगा।
देता हूँ तुझको "दिव्य नेत्र, वह दिव्य योग दिखलाएगा"॥८॥

संजय बोला—

संजय बोले हे महाराज ! यह कह जभी योगेश्वर ने।
वह रूप ईश्वरी दिखलाया देखा हो चकित धनुर्धर ने॥९॥
नाना मुख आंखों वाला था अरु विविध रूप था लिये हुए।
था बहुत दिव्य भूषण धारे, थे दिव्य शस्त्र करमें उसके॥१०॥
माला कपड़े थे दिव्य सभी अरु दिव्य सुगन्धित लेपन था।
अति अद्भुत और अनन्त देव सर्वत्र व्याप्त उसका तन था॥११॥
नर राज ! सहस्रों सूर्य अगर नभ में इक साथ चमक जाएं।
तब जाकर कहीं महात्मा की उस आभा की उपमा पाएं॥१२॥
देवों का देव कहाता जो उस तन में अर्जुन ने देखा।
नाना रूपों में बंटा हुआ सम्पूर्ण जगत एकत्रित था॥१३॥
आश्चर्य चकित रोमांचित हो अर्जुन ने सिर को झुका लिया।
कर जोड़ नमस्ते किया तभी मधुसूदन से यह वचन कहा॥१४॥

अर्जुन बोला—

अर्जुन बोला हे देव लखूं तव देह बीच नर सुर सारे।
कमलासन पर ब्रह्मा देखूं तुम नाग ऋषिन को हो धारे॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य—
मनन्तबाहुं शशि सूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे विश्वरूप! जग के स्वामी !
तव रूप अनेकों मैं देखूं।
बहु हाथ पैर मुख नेत्र तेरे
आदी मध्यान्त नहीं पेखूं ॥ १६ ॥

सिर मुकुट हाथ में चक्र गदा अति प्रखर तेज को धारे हो
है तुझे देखना बहुत कठिन तुम इक असीम अङ्गारे हो ॥

दोहा—मुकुट गदा अरु चक्र धर, तेज पुञ्ज की खान।
हो अलक्ष्य तुम सूर्य सम, हे अनन्त भगवान ! ॥१७॥

तुम अक्षर हो ज्ञातव्य सखे !
इस जग के एक सहारे हो।
अव्यय हो, धर्म सुरक्षक हो,
तुम पुरुष सनातन प्यारे हो ॥१८॥

तव आदि मध्य अवसान नहीं,
हो बली अमित हाथों वाले।
रवि चन्द्र नेत्र, मुख आग तेरा
जो भस्म जगत को कर डाले ॥१९॥

नभ पृथ्वी के अन्तर में हो,
व्यापक हो सर्व दिशाओं में।
लख भीषण अद्भुत रूप तेरा
हों तीनों लोक व्यथाओं में ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौमरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाःप्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेक वर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

सुर संघ प्रवेश करें तुम में
कुछ डर, कर जोड़ स्तुती करते।
सब सिद्ध महा ऋषि यश गाते
हो स्वस्ती उच्चारण करते ।।२१।।
आदित्य साध्य वसु रुद्र मरुत्
अरु पितर अश्विनी कुंवर सभी।
लखते विस्मित हो यक्ष तुम्हें
गन्धर्व सिद्ध औ असुर सभी ।।२२।।
बहुनेत्र मुखों का महा रूप
बहुजंघा पैर उदर वाला।
बहु हस्त भयंकर दाढ़ युक्त
प्रकृति के व्याकुल कर डाला ।।२३।।
अति उच्च तेज वर्णों वाले
मुंह खुला चमकते नेत्र बड़े।
मैं दुखी हुआ शम, धैर्य गया
लखि तुमको विष्णु यहां खड़े ।।२४।।
कालाग्नि सदृश लखि मुख तेरे
जो भीषण दाढ़ें रखते हैं।
देवेश जगद्धर! हो प्रसन्न
दुख पा हम यूंहि भटकते हैं ।।२५।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

धृतराष्ट्र पुत्र अरु सब राजा
यह कर्ण, भीष्म अरु द्रोण बली ।
अरु अपने मित्र नृपों की भी,
लाशें तव मुख में जायें चली ॥ २६ ॥
कुछ दांतों में हैं अटक गईं
कुछ होठों से हैं गई मली
जाती हैं तव भीषण मुख में
[illegible] दाढ़ों बीच दली ॥२७॥
[illegible] नदियन का वेग नित,
सागर में ही जाय ।
तैसे ही यह वीर गण
तव मुख गये समाय ॥२८॥
जैसे खद्योत चले आते
दीपक पै अपना काल लिये ।
इस भांति सभी नर मरने को
तव मुखमें झटपट जाएं चले ॥२९॥
चहुं ओर सभी को निगल गये
[illegible] अरु अभी चाटते जाते हो ।
सारे जग में भर विकट तेज
निज द्युति से उसे तपाते हो ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

श्रीभगवान उवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

तुम कौन बताओ विकट रूप
मैं करूं नमस्ते खुश होजा ।
पुनि आदि मूल तुम कैसे हो
दो अपना ढंग मुझे बतला ॥३१॥

श्री भगवान बोले

माधव बोले हूं काल सखे !
सब लोक नसाने आया हूं ।
हो रिपुदल नष्ट बिना तेरे
यह तुझे बताने आया हूं ॥ ३२॥
इसलिए खड़ा हो यश पाले रण जीत धनी राजा होजा ।
यह मैंने पहले मार दिये हे अर्जुन ! तू कारण बनजा॥ ३३॥
यह द्रोण जयद्रथ कर्ण भीष्म
अरु अन्य महा योधा सारे ।
मुझसे हैं मरे दुःखी मतहो
कर युद्ध विजय निश्चित पा रे ॥३४॥

संजय बोले-

सञ्जय बोला सुनि कृष्ण बचन
कर जोड़ कांप अर्जुन बोला ।
पुनि बारम्बार प्रणाम किया
डरते २ निज मुंह खोला॥३५॥

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२

अर्जुन बोला—

तब कीर्तन जग में हृषीकेश !
है उचित हर्ष देता सबको ।
राक्षस चहुं ओर भगे डर से
सब सिद्ध प्रणाम करें तुझको ॥३६॥

हे महापुरुष ! नर क्यों न झुकें तुम ब्रह्मा से भी बड़े प्रभू ।
देवेश जगाश्रय हो अनन्त है भाव अभाव परात्पर तू ॥ ३७॥

दोहा—आदि पुरुष हो आदि सुर, तुम हो जगदाधार ।
परं धाम सर्वज्ञ हो, अमित रूप विस्तार ॥ ३८॥
वायु प्रजापति अग्निमय, पड़दादा हो आप ।
बार बार वंदन करूं, मिटें सभी सन्ताप ॥ ३९॥

ज्ञातव्य तुम्हीं हो आदि पुरुष ! हे आदि देव ! जग रक्षक हो।
हो परम धाम सर्वज्ञ तुम्हीं, हो अमर विश्व में व्यापक हो ॥
आगे पीछे सब ओर करें वन्दन तुझ को जग में सारे ।
हो अमित पराक्रम वीर्ययुक्त सर्वस्व तुम्हीं हो जगधारे ॥४०॥
निज मित्र जान कर मैंने जो महिमा तेरी नहिं पहिचानी ।
कह डाला यादव कृष्ण ! सखा यह गलती मैंने अबजानी॥४१॥
जो क्रीडा में उपहास किया अपमान किया सोते खाते ।
मित्रों में थे व अकेले थे सब चमा करो हे जगत् पते !॥४२॥

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवान उवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

तुम लोक चराचर के स्वामी
हो पूज्य महा गुरु तुम्हीं सदा।
त्रयलोक में तुम सा कोई नहीं
कैसे हो तुमसे कोई बड़ा।४३।
साष्टांग नमस्ते करके मैं
हे पूज्य! प्रसन्न करूं तुझ को।
निज सुतको पिता, सखा प्रियको,
सहता है तुमभी क्षमा करो॥४४।

अदृष्ट रूप लखि हर्ष हुआ पर मन मेरा भयभीत हुआ।
हे देव! धरो फिर रूप वही देवेश जगद्धर करो कृपा॥४५।
सिर मुकट करों में चक्र गदा वैसा ही रूप दिखाओ तुम।
जगरूप! असंख्य भुजावाले फिरचतुर्भुजी बनजाओतुम॥४६॥

श्री कृष्ण बोले—

बोले श्री कृष्ण दया करके यह परम रूप दिखलाया है।
तेजस्वी व्यापक आदि अमरनहिं अन्य कोई लख पाया है॥४७॥
बहु वेद यज्ञ पढ़ने वाले
अरु दान क्रिया तप जो करते।
यह लोक में कोई सिवा तेरे
इसका दर्शन नहिं कर सकते॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन वाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्री भगवान उवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

ऐसा—घोर रूप यह देखकर,
हो न दुखी तज शोक ।
हो प्रसन्न, भय त्याग दे
रूप वही अवलोक ॥ ४९ ॥

संजय बोले—

यह कह माधव ने अर्जुन को
फिर वही रूप दिखलाया है ।
फिर शांत रूप धारण कर के
भय उसका सभी मिटाया है ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोले—

अर्जुन बोला हे कृष्ण ! तेरा यह शांतरूप लखि सुखीहुआ ।
अब शांत हुआ यह मन मेरा मैं पूर्व दशा को प्राप्त हुआ ।

श्रीभगवान बोले—

माधव बोले यह अजब रूप जो मैंने तुझको दिखलाया ।
सब देव तरसते हैं इसको पर दर्शन कोई न कर पाया ।।५२।।
जो दर्शन तूने अभी किया वह प्राप्त नहीं हो यज्ञों से ।
तप दान किये से भी न मिले, है दूर तथा वेदज्ञों से ।।५३।
यह रूप तथा मम ज्ञान वही निश्चय से वह ही जानेगा ।
जो केवल मेरा भक्त रहे अरु पूज्य मुझे ही मानेगा ।।५४।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो
मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु
यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूप दर्शन योगो
नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

निज कर्म करे मुझ को, अर्पण मुझ में हो तत्पर, संग तजे।
सब भूतों से जो प्रेम करे पाता मुझको जो मुझे भजे ॥

दोहा—अर्पण अपने कर्म कर, रहे नहीं आसक्त।
प्रेमी तत्पर मुझी में, पाय मुझे मम भक्त ॥ ५५ ॥

विश्वरूप दर्शन योग नाम का ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

(भक्तियोग)

अर्जुन उवाच–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवान उवाच–

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

(भक्तियोग)

अर्जुन उवाच-

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवान उवाच-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

बारहवाँ अध्याय ।

(भक्ति योग)

अर्जुन का प्रश्न—

अर्जुन बोला श्रीकृष्ण ! कहो दोनों में किस को श्रेष्ठ कहें ।
इक ओर निरन्तर भक्त तेरे, पुनि वे जो प्रभु में लीन रहें ॥१॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

श्रीकृष्ण कहें जो श्रद्धा से बस मुझे वन्दना करते हैं ।
मैं श्रेष्ठ उन्हें मानूं अर्जुन ! जो ध्यान मुझी में धरते हैं ॥२
वह ईश्वर 'अक्षर' 'अगम' 'अचल' व्यापक सर्व कहाता है ।
अव्यक्त, अमर, दुर्बोध सदा वर्णन में कभी न आता है ॥३॥
जो पुरुष इन्द्रियां बस में कर समता से उसको ही ध्यावें ।
भूतों का हित करने वाले वह भी तो मुझ को ही पावें ॥४॥
अदृश्य ईश की पूजा में पर ध्यान लगाना कठिन महा ।
दुख जो अव्यक्त गती में हो तनधारी से नहिं जाय सहा ॥५
सब कर्म मुझे अर्पण करके मुझ में जो चित्त लगाता है ।
अविभक्त योग के द्वारा जो केवल मुझको ही ध्याता है ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्याग-
स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

इस मृत्यु लोक के सागर से मैं उनको पार लगाता हूं।
जो मुझ में नित्य परायण हैं मैं उनका ही हो जाता हूं ॥७॥
मुझ में तू चित्त लगा अर्जुन ! रख बुद्धि सदा मुझ में ही तू।
यह जन्म तेरा जब बीतेगा पावेगा फिर मुझ को ही तू ॥८॥
असमर्थ धनञ्जय यदि होवे मन को मुझ में ठहराने में।
अभ्यास योग के द्वारा फिर हो सफल मुझे तू पाने में ॥९॥
अभ्यास न तुझ से यदि होवे निज कर्म मुझे अर्पण कर दे।
निश्चय सिद्धी को पावेगा यदि मेरे कारण कर्म करे ॥ १०॥
यदि यह भी काम नहीं होता मम योग सहारा ले करके।
कर्मों के फल का त्याग करो मनको अपने वश में करके॥११॥
अभ्यास मार्ग से ज्ञान भला और ध्यान ज्ञान से है अच्छा।
पुनि उसके फल का त्याग भला जा तुरत शांति का है दाता ॥

दोहा—ज्ञान भला अभ्यास से ध्यान ज्ञान से श्रेष्ट।
उत्तम फल का त्याग है, पावे मोच यथेष्ट ॥१२॥

मानव से द्वेष नहीं रखता सब का जो मित्र दयावाला।
ममता अभिमान नहीं जिसमें दुखसुखमें शांति क्षमावाला ॥१३॥
सन्तुष्ट सदा योगी जो है मन को जिसने संहारा है।
दृढ़ निश्चय मुझ में मन जिसका वह भक्त हमारा प्यारा है ॥१४॥
नर में उद्वेग न जिससे हो, जिसमें उद्वेग न लोगों से।
प्यारा मम भक्त अलग रहता भय हर्षद्वेष के रोगों से ॥१५

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः । १७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

जो इच्छा रहित उदासी हो अरु पावन, दक्ष, सुखी मन में।
प्यारा है मेरा भक्त वही संकल्प तजे अपने मन में ॥१६॥
जो हर्ष द्वेष से रहे परे आशा अरु शोक न करता है।
नित भले बुरे का त्याग करे वह मुझको प्यारा लगता है ॥१७॥
जो शत्रु, मित्र को सम देखे अपमान, मान में शांत रहे।
गर्मी, सर्दी, सुख दुख में सम विषयासक्ती को नहीं गहे ॥१८॥
निन्दा स्तुति को सम देखे जो सन्तोषी हो अरु मौन रहे।
हो स्थान रहित, स्थिर मतिवाला, वह भक्त उदारानेक गहे ॥१९॥

दोहा—श्रद्धापूर्वक जो सुने, यही धर्म उपदेश।
ऐसे अपने भक्त से मेरा प्रेम विशेष ॥ २० ॥

भक्ति योग नाम का बारहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ त्रयोदशोऽध्याय

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग)

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव
क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि
ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ अ ॥

श्री भगवान उवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्चयत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

तेरहवां अध्याय

(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग)

अर्जुन ने पूछा—

दोहा—अर्जुन बोला, "कृष्ण ! कह प्रकृति पुरुष का ज्ञान।
बता 'क्षेत्र' 'क्षेत्रज्ञ' को, कहो 'ज्ञेय' अरु ज्ञान" ॥
अर्जुन बोला हे कृष्ण ! बता, प्रकृति अरु 'पुरुष' किसे कहते ।
क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र का ज्ञान बता अरु ज्ञान ज्ञेय में भेद सबे ! १ प्र॥

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

बोले माधव हे कौन्तेय ! यह नर तन क्षेत्र कहाता है ।
इसको जो जाने "क्षेत्रज्ञ" तत्वज्ञानी कहलाता है ॥१॥
सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे तुम निश्चय से भारत जानो ।
क्षेत्रज्ञ क्षेत्र का ज्ञान, ज्ञान, मेरा मत है इसको मानो ॥२॥
क्या है ? कैसा है ? कहां से है ? वह कैसे विकृति को पावे ।
क्षेत्रज्ञ कौन है बतलाऊं अरु क्या प्रभाव वह दिखलावे ॥३॥
नव भिन्न २ छन्दों द्वारा महिमा ऋषियों ने गाई है ।
अरु ब्रह्मसूत्र के वाक्यों ने दृढ़ युक्ति सहित समझाई है ॥४॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि
यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म
न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

मन एक, अहंता, पंच भूत, ये दशों इन्द्रियां पांच विषय।
अव्यक्त, मूल, माया, बुद्धि यह रूप क्षेत्र का है निश्चय ॥५॥
सुख द्वेष चेतना इच्छा दुख संतान और धृति को जानो।
ये सभी क्षेत्र के हैं विकार निश्चय करके इसको मानो ॥६॥
हो क्षमा अहिंसा सादापन अरु मान कपट से दूर रहो।
गुरुसेवा, स्थिरता, संयमहो, मनशुद्ध बना, कुछ क्लेश न हो ॥७॥
विषयन के प्रति वैराग्य रहे मत अहंकार मन में ला रे।
दुःख, रोग, बुढ़ापा, जन्म, मरण अरु दोष न भूल कभी प्यारे॥८
सुत, पत्नी और गृहस्थी में अनुचित ममता अरु मोह न हो।
समचित्त सदा रहना सीखो प्रिय अप्रिय में कुछ भेद न हो॥९॥
मत भटको इधर उधर केवल मेरे ही भक्त बने रहना।
एकान्त निवास सदा करना जनगण आसक्त नहीं रहना॥१०॥

दोहा—तत्व ज्ञान का अर्थ लखि, धार हुआ त्मज्ञान ॥
यह तो सारा 'ज्ञान" है, हो विरुद्ध "अज्ञान" ॥११॥

ज्ञान सुना, अब ज्ञेय सुन, अमृत को तू पाय।
है अनादि सदसत नहीं, परम ब्रह्म कहलाय ॥

अब 'ज्ञेय सुनो अर्जुन! जिससे नर सदा अमर हो जाता है।
सत कहें न उसको असत कहें परब्रह्म अनादि कहाता है ॥१२॥
है व्यापक सभी जगह ईश्वर उसके कर पैर सभी स्थल में।
सिर आँखें उसके सभी ओर, मुख कान सदा नम, जलथल में ॥१३

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

इति चेत्रं तथा ज्ञानं
ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्तः एतद्विज्ञाय
मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

प्रकृति पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान् ॥१९॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ॥२१॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

इंद्रियां न उसकी हैं लेकिन उन सब के गुण को रखता है।
निर्लेप तथा निर्गुण होकर सब भोग गुणोंके करता है ।।१४।।
भूतों के बाहर भीतर है, गतिमान सदा औ स्थिर भी है।
है सूक्ष्म नहीं जाना जाता, है दूर, निकट वह फिर भी है ।।१५।।
अविभक्त पूर्ण है भूतों में पर बटा हुआ सा लगता है।
बस ज्ञेय उसी को तुम जानो वह पालक, नाशक, कर्ता है ।।१६।।
सब ज्योतिन की वह ज्वाला है अरु अन्धकारसे परे सदा।
है "ज्ञान" वही है "ज्ञेय" वही मन में वह सबके रहे सदा ।।१७।।
संक्षिप्त रूप से अब मैंने यह क्षेत्र, ज्ञान अरु ज्ञेय कहा।
जिसने है इसका मनन किया वह भक्तमुझी में आन रहा।

दोहा—क्षेत्र, ज्ञान अरु ज्ञेय का, लक्षण दिया बताय।
भक्त इसे जो जानता, वह मुझ को ही पाय ।।१८।।

यह प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य अनादि कहाते हैं।
गुण दोष प्रकृति से ही होते यह ज्ञानी जन बतलाते हैं ।।१९।।
केवल इस प्रकृति के द्वारा सब कार्य व कारण होते हैं।
सुख दुख अरु भोगों के भोगी नित सभी पुरुष गण होते हैं ।।२०।।
जो प्रकृति के वश रहता, है गुण दोष उसी के पाता है।
अनुकूल इन्हीं गुण दोषों के नर विविध योनि में जाता है ।।२१।।
जो परम पुरुष इस तन में है सब कुछ देखे अनुमतिदाता।
भोक्ता, भर्तार, महेश्वर है परमात्मा भी वह कहलाता ।। २२

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि
क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मान-
मकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

जो पुरुष प्रकृति के इस प्रकार गुणा सहित ज्ञान को प्राप्त करे।
वह चाहे जितने कर्म करे पर जन्म दूसरा नहीं धरे ॥ २३॥
कुछ ध्यान लगा कर आत्मा से आत्मा को अपने में देखें।
कुछ ज्ञान मार्ग से लखें इसे कुछ कर्म योग से नरपेखें ॥२४॥
जो नर यह मार्ग नहीं जानें पर औरों से सुन लेते हैं।
महिमा प्रभु की सुन भक्ति करें वह मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं॥२५॥
हे भारत! जग में जो कुछ भी [illegible] स्थिर दिखलाई दे।
क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र का मेल कहो कारण बस यही दिखाई दे ॥२६॥
इन नश्वर भूतों में जो नर उस अविनाशी को जानेगा।
रखखे सम भाव सभी में जो बस वही उसे [illegible] ॥ २७
समता से प्रभु को सभी जगह जो विद्यमान प्राणी देखे।
वह परम धाम को पाता है अरु कभी न अपना हनन करे ॥२८
सब कर्म प्रकृति ही करती है ऐसा है जिसने जान लिया।
अपने को कर्ता नहीं कहे सज्ज्ञान उसी ने प्राप्त किया ॥
दोहा—कर्म प्रकृति ही सब करे, कर्ता उस को मान।
कर्ता निज को मत समझ, पावेगा सद्ज्ञान ॥२६॥
जो नर जीवों को अलग अलग होने पर भी इक में देखे।
है ब्रह्म से उत्पन्न जगत यह जान मोक्ष को प्राप्त करे ॥३०॥
अव्यय, अविनाशी, परमेश्वर है निर्गुण "आदि" नहीं रखता।
वह स्वयं न कुछ भी करता है निर्लेप सदा तन में रहता॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव-
मन्तरं ज्ञानचक्षुषा
भूतप्रकृतिमोक्षं च
ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जैसे अति सूक्ष्म गगन व्यापक होने पर भी निर्लेप रहे।
वैसे ही तन में रहने पर यह आत्मा लिप्त नहीं होवे ॥३२॥
जैसे यह सूर्य अकेला ही करता है जग में उजियारा।
वैसे ही तन से ब्रह्म ने सब दूर अन्धेरा कर डाला ॥३३॥
क्षेत्रज्ञ क्षेत्र में अन्तर क्या बन्धन से कैसे नर छूटें।
जो ज्ञान चक्षु से यह देखे आनन्द मोक्ष का वे लूटें ॥

अन्तर क्षेत्री क्षेत्र का, बन्धन मोक्ष उपाय।
ज्ञान नेत्र से जो लखे, परम ब्रह्म को पाय ॥॥३४॥

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग नाम का तेरहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः।

(गुणत्रयविभाग योग)

श्रीभगवान उवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

चौदहवां अध्याय

(गुणत्रयविभाग योग)

श्री भगवान बोले

श्रीकृष्ण कहे, अर्जुन तुम्ह को अब उत्तम ज्ञान बताता हूँ।
जिससे मुनियों की सिद्धि हुई, वह भली भांति समझाता हूँ ॥१॥
पुनि उसी ज्ञान के आश्रय से मुझ में वह सभी समाते हैं।
इस जग में जन्म नहीं लेते, नहीं व्यथा प्रलय में पाते हैं ॥२॥
यह प्रकृति मेरी योनि है मै गर्भाधान करूं इसमें।
बस इस प्रकार सब भूतों को अर्जुन उत्पन्नकरूं जग में ॥३
हे कुन्ति पुत्र ! सब योनिन में जिन भूतों की उत्पत्ति है।
मैं बीज डालता हूं उन में वह योनी मेरी, प्रकृति है ॥४॥
गुण तीन सत्व, रज, तम सारे उत्पन्न प्रकृति से होते हैं।
अविनाशी जीव बंधे इन से, ये बीज जन्म का बोते हैं ॥५॥
यह सत्व सदा निर्मल होता करता प्रकाश सब रोग हरे।
सुख ज्ञान के बन्धन में पड़ता धारण इसको जो जीव करे ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥
सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

रजस्तमश्चाभिभूय,
सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव,
तमः सत्वं रजस्तथा ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

है "रज गुण" रागभरा अर्जुन ! आसक्ति व तृष्णा लाता है ।
इसको अपनावे जो प्राणी कर्मों का बन्धन पाता है ॥ ७॥
कारण अज्ञान तमो गुण का सब जीवों को मोहित कर दे ।
बन्धन में भूल व सुस्ती के इस गुण वाला नर जाय पड़े ॥८
गुण सत्व सुखों का दाता है रज कर्मों का बंधन लावे ।
औ ज्ञान नष्ट हो तमगुण से नर सुस्त प्रमादो हो जावे ॥६
दोहा-रज तम दवते हैं जभी, सत गुण ऊपर आय ।
इन में से जब दो दबें, तीजा शीश उठाय ॥
जब रज अरु तम दब जाते हैं तब सत्वसदा ऊपर आता ।
हो रज ऊपर तम सत्व दबे रज सत्व गिरे तम चढ़ जाता॥१०॥
इस तन में इन्द्रिन के द्वारा' जब ज्ञान प्रकट हो जाता है।
अरु तन यह पूर्ण प्रकाशित हो गुण सत्व तभी बढ़ जाता है ११॥
रज गुण जब तन में बढ़ जाते नर लोभ चेष्टा कर्म करे ।
हो नित्य अशान्त सदा अर्जुन ! अरु इच्छाओं से सदा घिरे १२॥
तम गुण के तन में बढ़ने पर अज्ञान मन्दता भूल पड़े ।
वह सावधान नहिं रहता है अरु नित्य मोह में पड़ा सड़े ॥१३॥
गुण सत्व बड़ा होने पर जब तन धारी अपने प्राण तजे ।
वह निर्मल लोक उसे मिलते उत्तम ज्ञानी जो स्थान भजे॥१४॥
रज गुण में पुरुष मरे कोई वह कर्म योनि में जाता है ।
पुनि तम गुण में जो मरता है वह मूढ़ योनि को पाता है॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुनोवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवान उवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

अच्छे कर्मों का फल अर्जुन निर्मल अरु सत्विक ही होता ।
दुख मिले राजसी कर्मो से सब ज्ञान तमोगुण से खोता ॥१६
शुभ ज्ञान सत्व से पैदा हो अरु लोभ रजोगुण से जानो ।
हो मोह प्रमाद तमोगुण से अज्ञान उसी से ही मानो ॥ १७
ऊपर जाते हैं सात्विक नर अरु मध्य राजसी नर ठहरें ।
गुणि नीच तमोगुणवाले नर नीचे ही नीचे जाय गिरें ॥१८॥
गुण ही सब कर्म करें जग में सचा ज्ञानी ऐसा मानें ।
वह नर मुझको ही पाता है अरु जगदीश्वर को पहचाने ॥१९॥

दोहा—देह जन्य यह तीन गुण, जो नर कर ले पार ।
जन्म मरण दुख दूर हो, गहे मोक्ष का द्वार ॥२०॥

अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन बोला हे प्रभू ! कहो ऐसे नर का लक्षण क्या है ?
कैसे तीनों गुण पार करे उसका आचार कहो क्या है ? २१

श्रीकृष्णजी का उत्तर—

बोले माधव सुनलो अर्जुन ! जो मोह प्रकाश व चेष्टा को ।
पाने पर सुखी नहीं होता इच्छा न करे यदि प्राप्त न हो ।२२
जो सदा उदासी रहता है स्थिर रहे गुणों का असर न हो ।
जो गुण कोह कर्ता जाने अर्हकमर्द में कसर न हो ।॥२३॥
जो स्वस्थ रहे, सुख दुख में सम, मिट्टी सोने की सम जाने ।
प्रियअप्रिय को सम गिने सदा, निन्दा स्तुति को जो इक माने ।२४

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाह-
ममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य
सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे गुणत्रय विभाग योगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

अरि मित्र में भेद नहीं देखे अपमान मान से अविचल हो
सब चेष्टाओं का त्याग करे तुम गुणातीत बस उसे कहो ॥२५
जो एक मुझी को भजता है अरु नहीं अन्य का जाप करे।
वह पार करे तीनों गुण को फिर ब्रह्म रूप को आप धरे ॥२६
मैं आश्रय हूं उस ब्रह्म का जो अजर अमर कहलाता है।
मैं धर्म सनातन का आश्रय, मुझ से नर सुख को पाता है।
दोहा—अव्यय अमृत ब्रह्म का, हूं मैं हो आधार।
धर्म सनातन को धरुं, सुख का हूँ मैं सार। २७॥

गुणत्रय विभाग योग नाम का चौदहवां
अध्याय समाप्त ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः

(पुरुषोत्तम योग)

श्री भगवान उवाच—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्चमूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्यं
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

(पुरुषोत्तम योग)

श्रीकृष्ण बोले—

श्री कृष्ण कहें जग वृक्ष तुल्य जड़ ऊपर नीचे शाखायें।
पत्ते हैं वेद लगे इसमें बस ज्ञानी इसे समझ पायें ॥ १ ॥

शाखा चहूँ ओर बढ़ी गुण से विषयों की जिसमें कोंपल हैं।
कर्मों के बन्धन जड़ें सभी नर लोक मांहि फैलीं सब हैं ॥२॥

दुर्लभ है इसका उचित रूप,
कुछ आदि अन्त स्थिति दिखे नहीं।
गहरी हैं खूब जड़ें इसकी,
यह अनासक्ति बिन कटें नहीं ॥३॥

नर काट जड़ें उसको खोजे,
जिसको पाकर फिर जन्म न ले।
जिसने माया को फैलाया,
उसकी ही केवल शरण पड़े ॥४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितिं वापि
भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति
पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

निज मान मोह जिसने त्यागा अरु संग, दोष, को दूर किया ।
आत्मा में नित्य निमग्न रहे सब इच्छाओं को चूर किया ॥
सुख दुख रूपी सब द्वन्द्वों से जिसने है मुख को मोड़ लिया ।
वह मुक्त हुआ ज्ञानी उसने अविनाशी पद को पाय लिया ५॥
रवि चन्द्र अग्नि के बिना सदा ऐसा वह धाम प्रकाशित है ।
जिस में जा लोग नहीं लौटें वह लोक मुझी में आश्रित है। ६॥
मम अंश पुरातन जीव धार इस लोक में आय विचरता है ।
प्रकृतिस्थ इन्द्रियों को मन को वह नित आकर्षित करता है। ७॥
जब ईश्वर तन धारण करता अथवा जब छोड़े है तन को ।
जिमि गन्ध पवन ले जाती है वह ले जाता इन्द्रिय मन को॥८॥
पुनि कान नाक अरु जीभ त्वचा अरु आखें भी वह रखता है।
मन के द्वारा इन सब से ही विषयों का सेवन करता है ॥६॥

दोहा—तन त्यागे, तन में रहे, करे गुणों से भोग ।
मूढ़ पुरुष जानें नहीं, देखें ज्ञानी लोग ॥

तन त्यागे अथवा रहे वहीं या भोगे भोग गुणों द्वारा ।
नर मूर्ख नहीं लखते उसको बस ज्ञानी है देखन हारा ॥१०॥
वह योगी जन जो यत्न करें आत्मा में स्थित उसको जानें ।
पर जिनको आत्मा शुद्ध नहीं वह मूढ़ उसे नहिं पहिचानें॥११॥
जिससे सम्पूर्ण जगत चमके रवि तेज प्रचण्ड कहाता है।
जो अग्नि, चन्द्र में तेज रहे वह सब मुझसे ही आता है॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

मैं भूतल के भीतर रह कर भूतों को धारण करता हूँ।
बन कर रस वाला अन्न तथा पौदों का पोषण करता हूँ ॥१३॥
प्राणी के तन में बस कर मैं जठराग्नि ही बन जाता हूँ।
पुनि प्राण पान पवन द्वारा मैं चारों अन्न पचाता हूं ॥१४॥
सब के मन में रहता हूँ मैं, स्मृति ज्ञान अपोहन मुझ से है।
वेदज्ञ वेद में वर्णित हूं, प्रकटा वेदान्त मुझी से है ॥१५॥
इस जग में पुरुष यही दो हैं, इक नश्वर दूजा नष्ट न हो।
नश्वर हैं जग के भूत सभी अन्तर्यामी को अमर कहो ॥१६॥
इनसे भी अन्य पुरुष उत्तम परमात्मा जो कहलाता है।
तीनों लोकों में बसि उनके पालन का भार उठाता है ॥१७॥
चर अचर दोनों से उत्तम बस मैं ही माना जाता हूँ।
वेदों में, तीनों लोकों में, मैं पुरुषोत्तम कहलाता हूं ॥१८॥
जो मोह रहित होकर प्राणी मुझ पुरुषोत्तम को मानेगा।
सच्चे मन से जो मुझे भजे बस वही पुरुष सब जानेगा ॥१९॥
दोहा—तुझे बताया अनघ ! यह गुप्त शास्त्र का ज्ञान ॥
जो जाने कृतकृत्य हो, और बने धीमान ॥२०॥

पुरुषोत्तम योग नाम का पन्द्रहवां अध्याय
समाप्त ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

(दैवासुर-सम्पद्विभाग योग)

श्री भगवान उवाच—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

सोलहवाँ अध्याय ।

(दैवासुर-संपदि-विभाग योग)

श्री भगवान बोले—

माधव बोले "निर्भयता, दम, तप, यज्ञ, दान, मन शुद्ध रहे।
स्वाध्याय करे, हो सीधापन, मन ज्ञानयोग में लगा रहे ॥१॥
अक्रोध, अहिंसा, शान्ति, त्याग, निन्दा दूजे की नहीं करे।
हो मृदुता, दया, न लालच हो, अरु चंचलता को दूर करे॥२
हो तेज 'क्षमा' धृति 'लज्जा' हो अद्रोह, शौच, नहिं मान करे।
ये गुण वह प्राणी रखता है जो सुरसंपति लेकर जन्मे ॥३॥
कटु भाषी और घमण्डी हो पाखण्डी हो या अभिमानी।
जो असुर संपदा ले जन्मा, होता है वह नर अज्ञानी ।४॥
सुर संपति मोक्ष दिलाती है पर असुरी बन्धन में डाले।
मत शोक करो तुम हे पाण्डव ! जन्मे हो दैवि संपति ले ॥५
इक दिव्य, दूसरी आसुरि है, दो सृष्टि लोक में तुम्हीं गिनो।
यह दैवी तुम्हें बताया है असुरी का वर्णन अभी सुनो ॥६॥
क्या करना और नहीं करना यह असुर जानते नहीं कभी।
वे हैं अशुद्ध अचार-हीन अरु झूठ बोलते नित्य सभी ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं
दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्
प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

वे कहते हैं जग झूठा है, अरु ईश्वर रहित [illegible] ।
यह विषय भोग के लिये बना, कारण इसके हैं नर नारी ॥८

रख यही विचार सदा मन में मतिमन्द भयंकरकर्म करें ।
आत्मा है उनका मलिन हुआ, वे सदा जगत का धर्म हरें ॥९॥

दो०—इच्छायें अतृप्त हों, दम्भ-मान-मद-युक्त ।
मूढ़ अशुभ जन पाप में, रहते सदा प्रयुक्त ॥

इच्छायें तृप्त नहीं होतीं, मद, मान, दम्भ से युक्त हुए ।
वह मूढ़ अशुभ जन भ्रष्ट हुए, पापों में नित्य प्रयुक्त हुए ॥१०॥

जो प्रलय काल तक मिटे नहीं ऐसी चिन्ता में रहते हैं ।
सर्वस्व भोग को ही मानें, नित लगे उसी में रहते हैं ॥११॥

आशा के जालों में फँसकर कामी क्रोधी बन जाते हैं ।
वे विषय भोग के लिये सदा पापों से द्रव्य कमाते हैं ॥१२॥

पाया है मैंने इतना धन, यह इच्छा पूरी और करूं ।
इतना धन मेरे पास धरा, कल और इसे इतना कर लूं ॥१३॥

यह दुश्मन मैंने मारा है, औरों को भी मारूंगा कल ।
मैं ईश्वर हूँ, मै भोगी हूँ, हूँ सिद्ध, बदन में है अति बल ॥१४॥

मैं अति कुलीन सम्पति वाला, अब कौन बराबर है मेरे ।
दूं दान यज्ञ में, मौज, करूं, अज्ञान मोह इनको घेरे ॥१५॥

मतिभ्रष्ट अनेक विचारों से नित मोह जाल में फंस जाते ।
बस विषय भोग में लिप्त सदा नर अशुभ नरक में धंस जाते ॥१६

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमाङ्गतिम् ॥ २० ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति पराङ्गतिम् ॥ २२ ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुर-सम्पद्-विभाग योगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अपने को बड़ा कहें, अकड़ें, धन, मान, मदों में चूर रहें ।
विधिरहित नाम को यज्ञ करें, पाखण्डों से भरपूर रहें ॥१७॥
बल, क्रोध, अहंता, काम, दर्प के आश्रय को ही ग्रहण करें ।
मुझ व्यापी से भी द्वेष करें, निन्दा कर आत्मा हनन करें ॥१८॥
उन ऐसे द्वेषी क्रूरों को जो नीच कर्म नित करते हैं ।
आसुरी योनियों में डालूं वे नित्य वहां दुख भरते हैं ॥१९॥

दोहा—जन्म जन्म में वे अधम, योनि आसुरी पांय ।
मुझे न पाकर वे सदा, नीचे ही को जांय ॥२०॥

तुम क्रोध तजो, अति लोभ तजो, नित रहो काम से भी डरते ।
ये तीनों द्वार नरक के हैं जो नष्ट आत्मा को करते ॥ २१॥
हे कुन्तिपुत्र ! जो दूर रहे इन तीनों तम के द्वारों से ।
वह परं मोक्ष को पाता है अपने अच्छे आचारों से ॥२२॥
जो शास्त्र विधान नहीं माने, मनमाने भोगों में रहता ।
वह मोक्ष कभी नहिं पाता है, कष्टों में य फंसा रहता ॥२३॥

दोहा—अर्जुन ! कार्य अकार्य में, मानो शास्त्र प्रमाण ।
कार्य करो बस वही जो, उसमें किया बखान ॥२४॥

दैवासुर-संपत्ति-विभाग योग नाम का
सोलहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

(श्रद्धात्रय विभाग योग)

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्री भगवान उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

सतरहवां अध्याय

(श्रद्धात्रय विभाग योग)

अर्जुन ने पूछा—

अब किया प्रश्न यह अर्जुन ने तज शास्त्र वचन जो यज्ञ करें ।
इन सत्व रजस्तम तीनों में किस गति में वे नर जाय परें ॥१॥

श्री कृष्ण का उत्तर—

भगवन बोले, तू सुन अर्जुन ! यह श्रद्धा तीन तरह की है ।
सात्विकी, राजसी, तमवाली, पैदा स्वभाव से होती है ॥२॥
भारत ! श्रद्धा सब पुरुषों में अनुकूल प्रकृति के होती है ।
इससे ही नर जाना जाता मानव की यही कसौटी है ॥३॥
सात्विक देवों का भजन करें पुनि राजस यक्ष, निशाचर को
अरु तामस भूत परेत भजें, अर्जुन ! भज तू इक ईश्वर को ॥४॥
जो प्राणी ऐसा तप करता जो शास्त्रों में है नहीं कहा ।
पाखण्ड अहंता लिये हुए अरु काम राग में जाय बहा ॥५॥
ऐसे नर मूढ़ मुझे दुख दें जो विद्यमान तन में रहता ।
अरु पञ्च भूत को दुखी करें, मैं असुर सदा उनको कहता ॥६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याःस्निग्धाःस्थिराहृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहाराराज सस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९।

यातयामं गतरसं
पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं
भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

भोजन भी सुनले अर्जुन ! तू यह तीन तरह से प्रिय होते ।
तप, दान, यज्ञ के भिन्न भेद होते हैं भिन्न स्वभावों से ।।७।।

जो अन्न सरस,बलवर्धक हो सुख, प्रीति बढ़ाये, स्वस्थ करे ।
रसवाला,चिकना,पौष्टिक हो वह भोजन सात्विक पुरुष करे।८।

कड़वा, खट्टा, नमकीन,गरम, तीखा,रूखा) जो जलन करे ।
वह भोजन राजस को प्यारा दुख,शोक,रोग उत्पन्न करे ।।९।।

जो पड़ा देर से हो, बासी, दुर्गन्धयुक्त अरु नीरस हो ।
झूठा, अपवित्र, सड़ा भोजन बस तामस जन खाते उसको ।।

दोहा—बासी, झूठा, हो सड़ा, हो जिसमें दुर्गन्ध ।
नीरस भोजन को करें, तामस जन मतिमंद ।।१०।।

फल की इच्छा को तज कर जो विधि से कर्तव्य समझ उसको ।
वह सात्विक यज्ञ कहाता है सच्चे मन से करते जिसको ।।११

जो फल की इच्छा से करते जिसमें पाखंड दिखाता है ।
हे भारत ! सुन लो तुम इसको वह राजस यज्ञ कहाता है ।।१२।।

विधि-दान-दक्षिणा-हीन सखे ! मन्त्रों का जिसमें काम नहीं ।
वह तामस यज्ञ कहाता है जिसमें श्रद्धा का नाम नहीं । १३।।

गुरु, देव, ब्राह्मण, ज्ञानी की पूजा करना, शुचि सीधापन ।
मन धरो अहिंसा ब्रह्मचर्य, इन कार्यों से तपता है तन ।।१४।।

प्रिय सत्य सुखद बाणी बोले हितकर जो वचन सुनाता है ।
नित धर्म ग्रन्थ का पाठ करे बाणी का तपी कहाता है ।।१५।।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं
दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च
तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

जो नित्य प्रसन्न रहे मन में, हो शांत, मौन, संयम वाला।
है मानस तपी वही जिसने निज भाव शुद्ध होकर ढाला ॥१६॥
अति श्रद्धा से जो किया गया तप तीन तरह का होता है।
फल की इच्छा के त्याग सहित यह शुद्ध सात्विक होता है ॥१७
सत्कार, मान औ पूजा हित पाखण्ड सहित जो तप करते।
यह अस्थिर और अनिश्चित है इसको, है राजस तप कहते ॥१८
मूरखता से अरु हठ करके जो कष्ट उठाय किया जावे।
पर-नाश लक्ष्य रख कर मन में वह तामस तप ही कहलावे ।१६।
देना ही है इस आशय से बदला मिलने की आस न हो।
लखि देशकाल अरु पात्रहिं दिया उसको ही सात्विक दान कहो॥
दोहा—देना है इस भाव से, नहीं लाभ उर आन।
देश, काल औ पात्र लखि, देवे सात्विक दान ॥२०॥
बदला मिलने की आशा से जो फल की इच्छा सहित दिया।
अति दुखके साथ दिया जावे वह दान राजसी कहलाया ॥२१॥
अवसर औ स्थान बिना देखे जो कुछ कुपात्रको दान करे।
अभिमान निरादर से देना उसका ही तामस नाम पड़े ॥२२॥
ब्रह्मा का वर्णन तीन तरह ओं तत् सत् द्वारा किया गया।
पहले इसके द्वारा ब्राह्मण अरु वेद यज्ञ निर्माण हुआ ॥२३॥
वेदों में जिनका चित्त लगा अति श्रद्धा से सब कर्म करें।
वे नाम "ओं" का लेकरके विधिसे तप दान व यज्ञ करें ॥२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं
तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ
न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

पुनि मुक्ति की जो चाह करें "तत्" का उच्चारण करते हैं।
फल की इच्छा को तज देते जब दान, यज्ञ, तप करते हैं ॥२५॥
सचाई और भलाई में "सत्" नाम उचारा जाता है।
उत्तम कर्मोंमें ओ अर्जुन ! यह "सत्" प्रयोग में आता है ॥२६॥
तप, यज्ञ, दान में दृढ़ता को ज्ञानीजन "सत" बतलाते हैं।
जो प्रभु के हेतु किये जावें "सत" वह भी तो कहलाते हैं ॥२७॥
तप, दान, यज्ञ, अरु अन्य कर्म जो [illegible] किये जाते।
हैं लाभ हीन दुहुं लोकों में "असत" कर्म हैं कहलाते ॥

दोहा–बिन श्रद्धा के जो किया, कर्म, यज्ञ, तप, दान।
अर्जुन ! वह सब असत् है, होय न उसका मान ॥२८॥

श्रद्धा त्रय विभाग योग नाम का सतरहवां
अध्याय समाप्त ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

(मोक्ष सन्यास योग)

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्री भगवान उवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमितिचापरे ॥३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अठारहवां अध्याय

(मोक्ष सन्यास योग)

अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन ने पूछा हे भगवन ! सन्यास, त्याग का भेद कहो।
समझा दो दोनों अलग अलग जब तक मन संशय दूर न हो॥१॥

श्री कृष्ण का उत्तर—

तुम इच्छित कर्म तजो अर्जुन ! सन्यास यही कहलाता है।
पुनि कर्मों के फल को त्यागे वह ही त्यागी बन जाता है॥२॥
कुछ बुद्धिमान जन यह कहते हैं कर्म नहीं कोई अच्छा।
कुछ कहें यज्ञ, तप, दान करो इनका तो करना ही अच्छा॥३॥
विस्तार सहित बतलाता हूँ इसमें तू मेरा निश्चय सुन।
वह तीन तरह का होता है जो विषय त्याग का है अर्जुन !॥४॥
तप, दान, यज्ञ मत छोड़ो तुम यह कर्म किये जाने वाले।
वे नर पवित्र हो जाते हैं तप, यज्ञ, दान करने वाले॥५॥
निज कर्मों में भी संग तजो, फल की इच्छा तज, करो सदा।
यह उत्तम सम्मति देता हूं तुम इस पर अर्जुन ! चलो सदा ६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

कर्तव्य कर्म का त्याग सदा अनुचित ही माना जाता है ।
जो कर्म मोहवश त्याग करे वह तामस त्याग कहाता है ॥७॥
तन में दुख अनुभव करके जो शुभ दुखद कर्म से सदा डरे।
वह राजस त्याग कहाता है नर लाभ नहीं कुछ प्राप्त करे ॥८
"करना ही है" यह निश्चय कर कर्तव्य कर्म को कर लेगा ।
आसक्त न हो फल को त्यागे सात्विक त्यागी कहलावेगा ॥९॥

दोहा-बुद्धिमान, शुभ भाव युत, त्यागी संशय हीन ।
दुखद कर्म त्यागे नहीं, हो न सुखद में लीन ॥१०॥

कर्मों का बिलकुल तज देना यह अनृत और असंभव है ।
जो कर्म फलों का त्याग करे बस वही त्याग इक संभव है ॥११॥
नर इस प्रकार जो त्याग करे शुभ, अशुभ, मिश्र फल पाता है ।
पर कर्म सर्वथा जो तज दे फल नहीं कोइ भी पाता है ॥१२॥
सब कर्म सिद्ध होने के ये, सब कारण पाञ्च बताये हैं ।
सुन मुझसे सभी महाबाहू ! यह सांख्य शास्त्र में गाये हैं ॥१३॥
कर्ता, आधार, विविध साधन अरु विविध क्रियाएँ पाते हैं ।
पुनि पञ्चम है प्रारब्ध तथा यह कारण पाँच गिनाते हैं ॥१४॥
काया से, मन से, वाणी से कोई भी कर्म किया जावे ।
वह अनुचित हो या शास्त्र कथित यह पाञ्चों कारण दिखलावे१५
यह होने पर भी बुद्धि भ्रष्ट अपने को ही कर्ता मानें ।
अति मलिनबुद्धि उनकी अर्जुन ! मतिमन्द नहीं कुछ भी जानें।१६

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो अहंकार से खाली है ऐसा निर्लेप भरी वाला।
जग को भी मार, नहीं मारे, नहिं बन्धन में आने वाला। १७

नित ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता मिलकर सबसे ही कर्म कराते हैं।
अरु कर्ता, करण, क्रिया मिलकर यह तीनों कर्म बनाते हैं ॥१८॥

ज्ञान, कर्म, कर्ता सखे! तीन तरह के जान।
गुणानुकूल सब भेद यह, करता सांख्य बखान ॥१९॥

सब भूतों में जिसके द्वारा तुम एक भाव को नित देखो।
अरु भेद विभक्तों में देखो वह सात्विक ज्ञान उसे कह दो ॥२०॥

नर भिन्न २ होने से जो उन सब में भाव अलग कर दे।
वह राजस ज्ञान कहाता है जो द्वैत भाव पैदा कर दे ॥२१॥

सर्वस्व देह को बतलावे अरु उस में ही आसक्त रहे।
हो युक्ति-हीन अरु तत्व-रहित मुनि इसको तामस ज्ञान कहे ॥२२॥

आसक्ति-रहित फल-चाह न हो अरु द्वेष राग का नाम न हो।
ऐसे जो कर्म किया जाय उसको ही सात्विक कर्म कहो ॥२३॥

है इच्छा जिसमें भोगों की अरु अहंकार से किया गया।
जिसमें हो तन को कष्ट बहुत बस राजस उसको कहा गया ॥२४

परिणाम हानि अरु हिंसा का बिन सोचे मोह-सहित करना।
वह तामस-कर्म कहाता है निज बलका ध्यान नहीं धरना ॥२५॥

जो अहंकार आसक्ति बिना उत्साह धैर्य से है करता।
तुम सात्विक-कर्ता-कहो उसे, [illegible] फल में धरता ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥
धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ॥३३॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

पुनि रागी फल की चाह करे हो लोभी हिंसक महा मलिन।
फल से हर्षित अरु शोकित [illegible] ही राजस कर्ता [illegible]।
शठ मूर्ख कर्म से युक्त न हो, करने में देर लगाता है।
हो भक्की, नीच, उदास रहे तामस कर्त्ता कहलाता है ॥२८॥
[illegible]-बुद्धि और धृति भी सखे! तीन तरह की आन।
गुणानुसार सब भेद ये, इनका करूं बखान ॥२९॥
प्रवृत्ती और निवृत्ती में क्या करना है क्या नहीं करो।
बन्धन अरु मोक्ष भयाभय में जो भेद लखे मति सात्विक हो॥३०
जो धर्म अधर्म नहीं देखे कर्तव्य कर्म नहिं पहचाने।
जिसमें हो ज्ञान विवेक नहीं मुनि राजस-बुद्धि उसे जाने ॥३१॥
पुनि अन्धकार से घिरी हुई ज उलटा पाठ पढ़ाती है।
करना अधर्म दिखलावे जो वह तामस-बुद्धि कहाती है ॥३२॥
इकनिष्ठ धारणा है जिसकी, मन, इन्द्रिय-प्राण क्रियाओं में।
समबुद्धी से इनको धारे, हो सात्विक धृति दिशाओं में ॥३३
जिस धृति से हो आसक्त पुरुष धर्मार्थ काम मन में धारे।
मन में जो फल की चाह करे हो राजस-धृति उसकी प्यारे! ॥३४।
जिससे दुर्बुद्धि नहीं त्यागे, निद्रा, भय, शोक, उदास रहे।
वह मद को नहीं तजे प्राणी नर तामस धृति का दास रहे ॥३५॥
अब तीन तरह का सुख कहदूँ तू ध्यान लगाकर इसको सुन।
सुख का अभ्यास प्रसन्न करे हो अन्त दुखों का हे अर्जुन! ॥३६

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

पहिले जो ज़हर दिखाई दे परिणाम भला लेकिन होवे।
वह सुख सात्विक कहलाता है जो बुद्धि प्रसाद जनित होवे ॥३७
जो विषय इन्द्रियों से होता पहले अमृत सा भाता है।
पर विष समान परिणाम रहे वह राजस सुख कहलाता है ॥३८
आरम्भ अन्त दोनों में ही जो सुख मोहित कर देता है।
निद्रा आलस्य प्रमाद जनित वह नाम तामसी लेता है ॥३९॥

दोहा–पृथ्वी या आकाश में, अरु देवों से युक्त।
कोइ नहीं, जो प्रकृति के, तीन गुणों से मुक्त ।४०॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों शूद्रों के कर्म बताता हूँ तुमको।
ये गुण अनुसार विभक्त हुए अब मैं समझाता हूँ तुमको ।४१॥
शम, दम, तप शौच, क्षमा अनुभव आस्तिकता ज्ञान सरलता हो
ये गुण ब्राह्मण में होते हैं अरु मुख पर तेज झलकता हो ४२॥
धृति तेज वीरता चतुराई रण में नहिं पीठ दिखाता है।
नित दान करे प्रभुता रक्खे वह क्षत्रिय चतुर कहाता है ।४३
खेती व्यापार, गऊ-रक्षा यह वैश्य प्रकृति से करता है।
अरु शूद्र स्वभाव यही जानो वह सबकी सेवा करता है ॥४४॥
जो अपने २ कर्म करें नर युक्त वही हो जाते हैं।
वे सिद्धि भला कैसे पाते अब हम तुमको बतलाते हैं ॥४५॥
जिसने उत्पन्न किया जग को व्यापी सर्वत्र कहाता है।
निज कर्मों से जो भजे उसे बस मोक्ष वही नर पाता है ॥४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

पर-धर्म सुगम भी हो उससे निज धर्म बिगुण अच्छा जानो।
जो निज स्वभाव से कर्म करे वह पापी नहीं बना मानो ॥४७
जो कर्म स्वभाविक है अपने यदि दोष युक्त हों, नहीं तजे
प्रत्येक कर्म है दोष सहित ज्यूं धूआं आग को नहीं तजे ॥४८
आसक्त कहीं भी नहीं रहे, मन जीत, कामना त्यागी है।
सच्चा सन्यासी है वह नर, बस वही मोक्ष का भागी है ॥४६॥

दोहा—सिद्ध होय नर ब्रह्म को अर्जुन ! कैसे पाय।
पराकाष्ठा ज्ञान की, तुझे देऊँ समझाय ॥५०

जो शुद्ध बुद्धि वाला योगी, अपने को नित वश में रक्खे।
रस, रूप, गन्ध, ध्वनि, स्पर्श तजे नहिं राग द्वेष मन में रक्खे ५१
मन, काय, वचन का संयम कर नित रहे अकेला कम खावे
वैराग्य सहारा लेकर जो नित ध्यान योग में लग जावे ॥५२
बल, काम, अहन्ता क्रोध तजे अरु जो धनसंग्रह को त्यागे।
ममता तज शान्त रहे मन में अरु ब्रह्मभाव उसमें जागे ॥५३
पुनि ब्रह्म भाव को पाकर वह सब रूप देखता है सबको।
हो सुखी, न इच्छा शोक करे, बस परम भक्त वह मेरा हो ॥५४
मैं जो, कुछ हूँ अरु जैसा हूँ जो सभी तत्व से जानेगा।
समझेगा असली रूप मेरा बस वही मुझे पहचानेगा ॥५५॥
पुनि मुझमें आश्रय पाकर के अपने कर्मों में लगा हुआ।
पद अमर सनातन पाता है मम दया पात्र वह बना हुआ ५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथचेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥
यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौन्तेय
[illegible] निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहाद्
करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मन से सब कर्मों को मुझ में अर्पण करके तुम मुझे भजो।
अरु ज्ञान बुद्धि का आश्रय लो संशय निज मन के सभी तजो।।५७
मुझमें फिर चित्त लगाने पर सब कष्टों से तर जायेगा।
यदि नहीं सुनेगा तू मेरी तो सर्व नाश हो जायेगा।।५८।।
अभिमान सहारा ले करके यदि युद्ध न तू कर पावेगा।
तब प्रकृति युद्ध करावेगी निश्चय मिथ्या हो जायेगा।।५९।।

दोहा—नर स्वभाव से है बंधा, मन लाहि में देय।
नहीं मोहवस जो करे, परवश हो कर लेय।।

तू है स्वभाव से बंधा हुआ उसके अनुकूल करेगा तू।
जो नहीं मोहवश अब करता परवश हो वही करेगा तू।।६०।।
परमेश्वर सब के मन में है, माया से उन्हें चलाता है।
जिमी बैठ यन्त्र के उपर नर मन मानो उसे घुमाता है।।६१।।
उसकी ही शरण पकड़ भारत! अरु शुद्ध भाव से ध्यान लगा।
तू अमर शान्ति प्रय पद पावे हो जावे उसकी अगर दया।।६२।।
यह गुप्त ज्ञान बतलाया है इसका तुम मनन करो अर्जुन!
फिर जो कुछ तुमको उचित लगे वैसा ही कर्म करो अर्जुन।।६३।।
पुनि सब से गूढ़ वचन को सुन कुछ और तुझे बतलाता हूं।
तू मुझको अतिशय प्यारा है इस लिये तुझे समझाता हूं।।६४।।
मुझ से ही लगन लगा प्यारे सब यज्ञ मुझे कर दे अर्पण।
फिर मुझ को ही पावेगा तू यह ही मेरा है अविचल प्रण।।६५।।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति । ६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं सम्वादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

सञ्जय बोला—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

कर सब धर्मों का त्याग सखे ! मुझ में ही ध्यान लगा प्यारे ।
पापों से तुझ को मुक्त करूं मन में मत शोक मना प्यारे ॥६६॥
जो नहीं तपस्वी, भक्त नहीं, सुनने से जिसे परे रहना ।
अरु मुझसे द्वेष करे जो नर उसको यह ज्ञान नहीं कहना ॥६७॥
यह गूढ़ ज्ञान मम भक्तों को जो कोई पुरुष सुनावेगा ।
वह परम भक्ति मेरी करके निश्चय से मुझको पावेगा ॥६८॥
उस से बढ़कर सारे जग में मुझ को है कोई नहीं प्रियतम ।
आगे भी कोई नहीं होगा निश्चय से यह कहते हैं हम ॥६९॥

दोहा—इसी धर्म संवाद का, जो कर ले अभ्यास ।
ज्ञान यज्ञ से भजन कर, आवें मेरे पास ॥७०॥

जो द्वेष रहित श्रद्धा पूर्वक इस गूढ़ ज्ञान को सुन लेगा ।
होकर वह मुक्त भले लोगों के परं धाम को पावेगा ॥७१॥
अर्जुन ! मुझ को अब यह बतला मेरा उपदेश सुना तूने ।
क्या दूर हुआ अज्ञान तेरा चूरण निज मोह किया तूने ? ॥७२॥

अर्जुन बोला—

सब नष्ट हुआ है मोह मेरा अर्जुन बोला, मैं समझ गया ।
सन्देह नहीं मन में बाकी तव वचन मानने खड़ा हुआ ॥७३॥

संजय बोला—

सञ्जय बोला संवाद अजब यह वासुदेव औ अर्जुन का ।
हे भूप ! सुना सारा मैंने मन को रोमाञ्चित है करता ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुनसम्वादे मोक्ष सन्यास योगो
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

॥ इति ॥

ऋषि व्यास देव की कृपा हुई अति गूढ़ योग मैं सुन पाया ।
यह स्वयं कृष्ण ने कहा अभी जिसको सुनकर मैं हरषाया ॥७५॥
जब जब मैं याद करूं इसको आनन्द मुझे तब आता है ।
कृष्णार्जुन का संवाद अजब यह मुझको बहुत सुहाता है ॥७६॥
माधव का अद्भुत रूप अभी हे राजन ! मन में लाता हूं ।
मैं बार बार आनन्दित हो विस्मित होकर रह जाता हूं ॥७७॥

दोहा—जहां कृष्ण योगेश्वर, और धनुर्धर पास ।
विजय नीति, औ श्री, वहां, वैभव करे निवास ॥७८॥

मोक्ष—सन्यास—योग नाम का
अठारहवां अध्याय समाप्त ॥

॥ इति ॥

गीता के मुख्य उपदेश

(१)

आत्मा का अमरत्व

मरे नहीं आत्मा, अमर औ अजर है यह,
शस्त्र नहिं काटते, न आग ही जलावे है।
पानी में न गीली होवे, हवा न सुखाय इसे,
नाश अविनाशी का न कोई कर पावे है
कहे जो यह मरती है, मारती है दूसरे को,
मूर्ख मति-हीन नर जग में कहावे है
धर्म हेतु वीर तुम युद्ध निष्काम करो,
स्वार्थ हीन कर्म ही तो मोक्ष को दिलावे है

(२)

मृत्यु का लक्षण

जैसे तन माहिं बालपन व जवानी आवे,
अन्त में बुढ़ापा लखि चित्त न दुखाते हैं
इसी भांति क्रम से शरीर भी बदल जावे,
धीर मतिमान या सों नेह न लगाते हैं
जीर्ण वस्त्र त्याग नर नित्य ही बदलते हैं,
पहर नये वस्त्र निज तन को सजाते हैं
होते हैं प्रसन्न बस इसी तरह धीर जन,
त्यागने में तन तनिक शोक न मनाते हैं

(३)

श्रेष्ठ पुरुषों का अनुकरण

कर्म जो करेंगे महा पुरुष प्रसिद्ध जन,
लोग उसी कर्म को सदा ही अपनायेंगे।
नियम अटल संसार में दिखाई देवे,
मान लेंगे लोग जो प्रमाण वह बतायेंगे।
उचित इसी से श्रेष्ठ नरों को यही है सदा,
अपने क़दम फूंक फूंक के जमायेंगे।
एक भी अशुद्ध कर्म भूल से करेंगे यदि,
विश्व में खराबी होवे, लोग मर जायेंगे॥

(४)

कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है

कर्म में स्वतन्त्र सदा जीव हैं प्रभु ने किये,
भोग में फलों के पर होते पराधीन हैं।
कारण बनो न भाई कर्म के फलों का तुम,
त्याग फल कर्म करें वही तो प्रवीण हैं।
मूर्ख कर्म-हीनता को मोक्ष का उपाय कहें,
कभी भी पुरुष नहीं होते कर्म हीन हैं।
हानि और लाभ, जीत हार को समान जानें,
योगी हैं प्रसन्न, चाहे धनी हैं या दीन हैं॥

(५)

विषयों में आसक्ति से सर्वनाश

ध्यान विषयों का कर राग ही उपजता है,
राग से हो काम, काम क्रोध को बढ़ाता है।
क्रोध से हो मोह, मोह याद को ही नष्ट करे,
याद खोय नर मति हीनता को पाता है।
बुद्धि हीन नर नित्य नाश की ही ओर बढ़े,
आसरा न पाय सर्वस्व वह गंवाता है।
दूर विषयों से रहे, काम अरु क्रोध तजे,
ऐसा ही पुरुष परम शान्ति को पाता है॥

(६)

शान्ति का उपाय

पूर्ण गम्भीर तथा अचल प्रतिष्ठा वाले,
जैसे महा सागर में नदियां समाती हैं।
कितनी ही असंख्य धारावाही सरितायें मिलें,
तनिक भी समुद्र को न स्थान से हटाती हैं।
ऐसे ही नितान्त कामनायें जिसमें नष्ट होवें,
ऐसे योगी राज को वह कभी न सताती हैं।
कामनाएं पूरी कभी किसी की न होती कहीं,
पावें नहीं चैन इन के जो पचराते हैं॥

(७)

शान्त चित्त वाले की पहिचान

कामना को त्यागे, अपने आप में सन्तुष्ट रहे,
कष्ट में दुखी न हर्ष सुख में मनाता है।
राग, भय, क्रोध त्याग सब को समान जाने,
कूर्म सम इन्द्रियों को वश में ले आता है।
मोह अहंकार त्यागे विषयों से दूर रहे,
ध्यान में प्रभु के निज चित्त को लगाता है।
राग द्वेष हीन वशी कर्म निष्काम करे,
मोक्ष पाय शीघ्र निज बन्धन छुड़ाता है॥

(८)

सात्विक कर्म व सात्विक दान

शास्त्र अनुकूल होवे, यह न कहे मैंने किया,
स्वार्थ हीन कर्म ही तो सात्विक कहाता है।
मोह की न भावना हो, चिंतन अनिष्ट न हो,
ऐसा शुभ कर्म मान जगत में पाता है।
दान के लिये ही दान करे जो महानुभाव,
लाभ की जो भावना को चित्त में न लाता है।
देश, काल, पात्र देख दान जो महान करे,
दान वही श्रेष्ठ है व मोक्ष को दिलाता है।

(९)

कर्म योग

जैसा कोई बोवे नर वैसा ही तो काटता है,
जग में प्रसिद्ध यह प्रसिद्ध कविताई है।
कर्म जैसा करे कोई वैसे फल पायगा ही,
अटल नियम, नहिं इस में ढिलाई है।
ठाली कोई रह न सके कर्म तो करेगा सदा,
अतः कर्म-बन्धन से होय न जुदाई है।
एक ही उपाय इस बन्धन से छूटने का,
कर्म निष्काम करो, इसी में भलाई है॥

(१०)

महा पुरुषों का आगमन

धर्म का हो नाश त्राहि २ चहुं ओर मचे,
राज करें दुष्ट व सुजन मार खाते हैं।
कांध शिरोधार्य अरु काञ्चन पगों में लोटे,
देश के उद्धार हेतु देव -गण आते हैं।
साधुन की रक्षा हेत दुष्ट का दलन करें,
धर्म वेल सींच २ मूल को जमाते हैं।
युग युग बीते देखा देश की क्रान्ति से यहां,
उत्तम पुरुष "ज्ञान" कष्ट को मिटाते हैं॥

सुघोष (शंख का नाम)। धनु=धनुष। कपिध्वज=अर्जुन, जिस के झंडे पर बन्दर का चित्र था। मधु-सूदन=श्रीकृष्ण (इन्होंने मधु नाम के राक्षस को मारा था)।

पृष्ठ ९—

आचारज=आचार्य, द्रोणाचार्य। गांडीव=अर्जुन के धनुष का नाम। बुद्धी=बुद्धि। नहिं=नहीं।

पृष्ठ ११—

सनातन धर्म=हमारे पूर्वजों की संस्कृति, सभ्यता तथा मनुष्यों के कर्तव्य कर्म।

पृष्ठ १३—

ध्रुव, दृढ़=पक्की।

दूसरा अध्याय

पृष्ठ १५—

खिन्न=उदास। आधिपत्य=अधिकार, राज्य।

पृष्ठ १६—

इन्द्रियगण संयोग=जिनका संबन्ध आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों से हो। क्षणभंगुर=शीघ्र नष्ट होने वाले। जिसका ......रहता है=जो वस्तु संसार में नहीं है, वह पैदा नहीं हो सकती और जो कुछ जगत में विद्यमान है, वह कभी नष्ट नहीं

होता। मनुष्य के मरने पर शरीर भस्म होकर उसका रूप बदल जाता है और आत्मा तो नष्ट होती ही नहीं। अतः दोनों वस्तुएं बराबर रहती हैं। सत्य=जो है। असत् (असत्य)=जो नहीं है। अव्यय=न नष्ट होने वाला। नहिं देह कोई अविनाशी है=देह नाशवान है अर्थात जिस रूप में है सदा उस रूप में नहीं रह सकती।

पृष्ठ २१—

देही=आत्मा। अप्रगट=दिखाई न देने वाला।

पृष्ठ २३—

निर्भीक=निडर। अपयश=बदनामी। सामर्थ्य=शक्ति। अब मान=ऐसे मान कर। ज्ञान योग=शरीर नाशवान है, आत्मा अमर है। ईश्वर इन दोनों का संयोग व वियोग करने वाला स्वामी है, विद्यमान वस्तु नष्ट नहीं होती और जो है ही नहीं वह पैदा नहीं हो सकती आदि ज्ञान की बात ही ज्ञान योग है। इसको बुद्धियोग या सांख्य योग भी कहते हैं जो ज्ञान योग को भली भांति समझते हैं उनके लिए सुख दुख, हानि लाभ, जीत हार सब समान हैं, वह कर्तव्य कर्म को करते हुए कभी पाप के भागी नहीं होते। कर्म योग=कर्म के फल का त्याग करना ही योग अथवा कर्म योग है। फल की इच्छा को त्याग कर अथवा किसी कार्य के सुखदायक अथवा सुखदायक परिणाम को समान समझ कर कर्तव्य कर्म का करना ही कर्म योग है। अर्थात नेकी करो और दरया में डाल दो। कर्मपाश=कर्म बन्धन

फल की इच्छा सहित किये गये स्वार्थ सिद्धि के कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं। अर्थात् वह बारम्बार संसार में जन्म लेता है और मुक्त नहीं होता।

पृष्ठ २५—

कुरुनन्दन=कुरु वंश का पुत्र अर्जुन। बहुशाखा=जिसका मन अपने वश में नहीं है, उसका चित्त चलायमान होकर कई दिशाओं में जाता है, वह एकाग्रचित्त नहीं हो सकता। वेद वेद चिल्लाते हैं=वेद वादी वे मनुष्य होते हैं, जो वेद के ज्ञान की उपेक्षा कर केवल फल की कामना से वेद वर्णित यज्ञों को करते हैं, अभिप्राय उन पुरुषों से है जो सकाम कर्म करते हैं स्वर्ग परायण=स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा करने वाले।

विषय=मजमून। तीन गुण=सत्व, रज, तम (१४ वें अध्याय में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन है)। संग=आसक्ति, चिमटना। सत्य वस्तु=परमात्मा। आत्मावान=अपने को जानने वाला, अपनी कमियों का देखने वाला। सुविशाल=बड़ा। जलाशय=तालाब। समता=सुख दुख में समान रहना। ब्राह्मण=वेदों को जानने वाला। ब्रह्मानन्द=परमात्मा में मिल जाने का आनन्द।

पृष्ठ २७—

सुनने से=भिन्न २ बातें सुनने से। समाधि=एकाग्रचित्त होकर प्रभु के ध्यान में लगना। स्थितप्रज्ञ=जिसका चित्त डांवा

कोस नहीं है।

पृष्ठ २६—

विष्णु=देवैन, राग=आसक्ति होना, मोह। जिमि=जैसे।
तिमि=वैसे ही। वशी=चित्त को वश में रखने वाला।

पृष्ठ ३१—

महाबाहु=लम्बी भुजाओं वाला अर्जुन। सब प्राणी ....
दश में। साधारण मनुष्य देर में सोते हैं और देर से जागते हैं
परन्तु ज्ञानी लोग शीघ्र सो जाते हैं परन्तु आधी रात को उठ कर
भजन करते है।

तीसरा अध्याय

पृष्ठ ३३—

बन्धन=आवागमन।

पृष्ठ ३५—

यज्ञ=लोक हित या परोपकार के काम। यज्ञों से देव.........
तुम को=यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होंगे और वे तुम्हारी सहा-
यता करेंगे। हवन से वायुमण्डल शुद्ध होता है और शुद्ध वायु
मनुष्यों के लिये लाभदायक है, यज्ञ पांच प्रकार के हैं, देव यज्ञ
(हवन), बलि वैश्व देव यज्ञ (पशु पक्षियों को भोजन देना),
अतिथि यज्ञ=अतिथि सत्कार, पितृ यज्ञ=माता पिता का सत्कार।

पृष्ठ ३७—

आत्मा से प्रेम=अपने आप से प्रेम। निर्ममः=ममता किसी में न होना, मोह रहित। निष्काम कर्म=फल की इच्छा विना किया गया कर्म। निश्चल=निकम्मे। परजन हित=परोपकार के लिये।

पृष्ठ ३६—

गुण बसते.........है। जिस प्रकार नासिका से श्वास लेते हैं पर उस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता, उसी प्रकार मनुष्य अनासक्त होकर निष्काम कर्म करे। अध्यात्म चित्त=शुभ कर्मों द्वारा आत्मा को ऊंचा उठाने वाला। प्रकृति=प्रकृती स्वभाव। निग्रह=रोकना। (मन से विषय को हटा कर केवल ऊपर से जबर्दस्ती रोकना)।

पृष्ठ ४१—

धर्म=कर्तव्य। "अन्य जनों......नीक" का भाव। अपने स्वभाव तथा सामर्थ्य के अनुसार कर्म करना चाहिये न कि दूसरों की अन्धाधुन्ध नकल करना; कौआ चला हंस की चाल अपनी भी भूल गया।

पृष्ठ ४३—

सूक्ष्म=बारीक। सूक्ष्मतम=बहुत ही बारीक। काम बलिदान=इच्छाओं का त्याग।

चौथा अध्याय

पृष्ठ ४५—

विवस्वन्=सूर्य, एक महापुरुष का नाम। प्रकृति=स्वभाव।

पृष्ठ ४७—

धर्म=धैर्य, क्षमा, दमन, चोरी न करना, स्वच्छता, इन्द्रियों को वश में करना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य भाषण, क्रोध न करना धर्म के लक्षण हैं। तत्व=भेद। भजता=फल देता हूँ। मार्ग=शासन, उपदेश। देवों=लाभदायक शक्तियों अर्थात् आग, पानी, भाप आदि। मर्त्यलोक=संसार। निष्कर्ता=कुछ न करने वाला, श्री कृष्ण सब कार्य परोपकार के लिए करते थे अतः वह कर्म के बन्धन से परे थे।

पृष्ठ ४६—

परधाम=मुक्ति। अकर्म=कर्म न करना। निष्कर्म=बुरे कर्म। दुर्बोध=कठिन। मर्म=भेद। कर कर्म''''''कहे मनुष्य शुभ कार्य को करके भी अहंकार न करे और जो अपने बुरे कर्म हों उन्हें स्वीकार करे कि मैंने किये हैं। द्वन्द्व=हानि, लाभ, सुख, दुख, जीत, हार, सर्दी, गर्मी आदि। परहित=दूसरे के लिए। ब्रह्मानल=ब्रह्म रूपी अग्नि। हवि=आहुति।

पृष्ठ ५१—

इन्द्रिन को '''''' होम करें=इन्द्रियों को वश में रखते हैं। शब्द, रूप=शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि विषयों का

चौथा अध्याय

पृष्ठ ४५ —

विवस्वन्=सूर्य, एक महापुरुष का नाम। प्रकृति=स्वभाव।

पृष्ठ ४७ —

धर्म=धैर्य, क्षमा, दमन, चोरी न करना, स्वच्छता, इन्द्रियों को वश में करना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य भाषण, क्रोध न करना धर्म के लक्षण हैं। तत्व=भेद। भजता=फल देता हूँ। मार्ग=शासन, उपदेश। देवों=लाभदायक शक्तियाँ अर्थात् आग, पानी, भाप आदि। मर्त्यलोक=संसार। निष्कर्ता=कुछ न करने वाला, श्री कृष्ण सब कार्य परोपकार के लिए करते थे अतः वह कर्म के बन्धन से परे थे।

पृष्ठ ४८ —

परंधाम=मुक्ति। अकर्म=कर्म न करना। निष्कर्म=बुरे कर्म। दुर्बोध=कठिन। मर्म=भेद। कर कर्म……कहे मनुष्य शुभ कार्य को करके भी अहंकार न करे और जो अपने बुरे कर्म हों उन्हें स्वीकार करे कि मैंने किये हैं। द्वन्द्व=हानि, लाभ, सुख, दुख, जीत, हार, सर्दी, गर्मी आदि। परहित=दूसरे के लिए। ब्रह्मानल=ब्रह्म रूपी अग्नि। हुति=आहुति।

पृष्ठ ५१ —

इन्द्रिन को …… लीन करें=इन्द्रियों को वश में रखते हैं। शब्द, रूप=शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि विषयों का

इन्द्रियों द्वारा भोग करते हुए भी अनासक्ति द्वारा इनके फल से मुक्त हो जाते हैं। छन्द २७ का भाव=कुछ लोग ज्ञान के द्वारा अपने कर्मों और श्वास प्रश्वास की क्रिया को वश में करके योगी बन जाते हैं। अपान=जो वायु सांस द्वारा बाहर निकालते हैं। अवरुद्ध करें=रोकें। यज्ञ शेष=यज्ञ से बचा हुआ।

पृष्ठ ५३—

आतमज्ञानी, आत्म ज्ञानी=अपने आप को पहचानने वाला।

पांचवां अध्याय

पृष्ठ ५५—

कर्म सन्यास=कर्म का त्याग, ज्ञान योग, सांख्य योग, बुद्धि योग, हानि, लाभ, सुख दुख में एक समान रहना। कर्म योग=योग, कर्म करना पर उसके फल की इच्छा न करना, निष्काम कर्म। मनन=विचार।

पृष्ठ ५७—

तज कर्म..........पाता है=जो कर्मों के फल का त्याग करने के स्थान में कर्म करना ही छोड़ देता है अर्थात निकम्मा बैठ जाता है वह दुख पाता है। वशी=संयमी। अत्क्त=फंसटे नहीं मोह नहीं करे। पंकज दल=कमल का पत्ता। मन..........तजकर=कर्म फल की इच्छा को त्याग कर। नव द्वार मयी नगरी=यह शरीर जिसमें नाक कान आदि ६ छेद हैं। इन्द्रिय-

जिन=संयमी । प्रभु ग्रहण ....कोई = परमात्मा मनुष्य के कर्मों का उत्तरदायी नहीं है।

पृष्ठ ५६—

ब्रह्मण=ब्रह्म, परमात्मा । अक्षय=न नष्ट होने वाला । स्थिर मति=जिसका चित्त निश्चल रहता है अर्थात् डांवां डोल नहीं होता । परं ब्रह्म=मुक्ति ।

पृष्ठ ६१—

यती=संयमी । जब प्राण.........लगा=प्राणायाम करना । भृकुटी=भौंहें । मेघा=बुद्धि । भोक्ता=खाने वाला । लोकेरा=जगत का स्वामी । तव=तेरे ।

छठा अध्याय

पृष्ठ ६३—

आश्रय=आसरा, सहारा । सन्यास=कर्मों का त्याग । योग=कर्मों के फल का त्याग । योगारूढ़ भये=योग की समाधि में लग कर । आत्मा को..........ले जावे=अनासक्ति द्वारा कर्म फलों का त्याग करके फिर आसक्ति द्वारा पुनः बन्धन में न फंसे । छन्द ६=आत्म निरीक्षण या आत्म चिन्तन द्वारा मनुष्य अपने आपको ऊपर उठाता है परन्तु जो अपनी ओर नहीं देखता वह नीचे गिर जाता है।

पृष्ठ ६५—

जो तृप्त············से=जिसको कर्म सिद्धान्त का पूरा पूरा अनुभव है। आस रहित=फल का त्यागी। कुशासन=कुशानाम की घास का बना हुआ आसन। इन्द्रिय दम=इन्द्रियों को वश में करना। स्वप्न शील=सोने वाला। जागरूक=जागने वाला। उपराम=मुक्त, छुट जाता है।

पृष्ठ ६७—

उपराम=निश्चल। संकल्प अनित=इच्छाओं से पैदा हुए, सकाम कर्म।

पृष्ठ ६९—

रजहीन=बुरी भावनाओं से मुक्त। समदर्शी=सबको बराबर जानने वाले, पक्षपात रहित। सर्व भूत-स्थित=सब मनुष्यों के अन्दर रमा हुआ। अपनी उपमा से=अपनी तरह से। साम्य योग=सब को समान देखना। वैराग्य=अनासक्ति, कर्म करते हुये भी उन से अलग रहना अर्थात फल की ओर ध्यान न देना।

पृष्ठ ७१—

छन्द ४४—पूर्व संस्कारों से वह स्वयं ही योग की ओर बढ़ता है और इस प्रकार योग की इच्छा वाला पुरुष भी शब्द ज्ञान (वेद) में कहे हुये सकाम कर्म को पार कर लेता है (परम गतो=परम गति, मोक्ष।

सातवाँ अध्याय

पृष्ठ ७५—

विज्ञान=विशेष ज्ञान, रहस्य, अनुभव। अपरा प्रकृति=इसके आठ अङ्ग ऊपर कहे हैं अर्थात् पृथ्वी, जल तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार। परा=जीव रूप प्रकृति। छन्द ६ का भाव=मनुष्य जीव और प्रकृति के संयोग से बनता है।

पृष्ठ ७७—

उपमा=उदाहरण। अग्नी=अग्नि, आग। तीन गुणमय भाव=सात्विक (उत्तम), राजसी (मध्यम) और तामसी (नीच) विचार। अगम=न समझ में आने वाली। भव=संसार।

पृष्ठ ७९—

आसुरी=राक्षसी, नीच। जिज्ञासु=ज्ञान की इच्छा रखने वाले अर्थार्थी=धन की इच्छा वाले। पीड़ित=दुखी। उत्तम गति मैं ही हूँ=वह अन्त में मुझमें आन समाता है। वासुदेव मय=परमात्मा से व्याप्त।

पृष्ठ ८१—

अव्यक्त—अप्रकट, अदृश्य। अव्यय=न नष्ट होने वाला। स्पष्ट=साफ। अज=जन्म न लेने वाला। द्वन्द्व=सुख, दुख, हानि लाभ आदि। दृढ़ व्रती=पक्का व्रत (संकल्प) रखने वाले। जरा=बुढ़ापा। अध्यात्म=स्वभाव। अधिभूत=प्रकृति। अधिदैव=जीवात्मा। अधियज्ञ=परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्मा।

—:*:—

आठवां अध्याय

पृष्ठ ८३—

माधव=श्रीकृष्ण। छन्द ६का भाव–जिन विचारोंमें मग्न हुआ मनुष्य शरीर त्याग करता है वह वही विचार अर्थात् संस्कार लेकर जगत में पुनः आता है।

पृष्ठ ८५—

अनादी=अनादि,जिसका आरम्भ नहीं है। विधाता=स्वामी। रवि-सम=सूर्य के समान तेजस्वी। अचिन्त्य=जिसकी महिमा अपार है।

पृष्ठ ८७—

एकाग्रचित्त=निश्चल मन। छन्द १७ का भाव=जिस प्रकार दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन होता है इसी प्रकार सृष्टि के पश्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् सृष्टि होती है, और यह प्रलय और सृष्टि बहुत दीर्घ काल तक रहती है "सृष्टि" ब्रह्मा का दिन है और "प्रलय" "रात" कहाती है। अव्यक्त=अदृश्य। भूत समुदाय=मनुष्यों का समूह। अन्य भाव= परमात्मा, अक्षर।

पृष्ठ ८६—

छन्द २४, २५, २६ का सार—जो मनुष्य उत्तम निष्काम कर्म करते हुए शरीर त्यागते हैं वह मुक्ति को पाते हैं और शेष जन आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं।

नवाँ अध्याय

पृष्ठ ६१—

छन्द ४, ५ का भाव—परमात्मा जगत में व्याप्त होने से सब प्राणियों में समाया हुआ है परन्तु उनके कर्मों का उत्तरदायी न होने के कारण उन से अलग भी है, जो उसके भक्त हैं, उनमें वह अवश्य है।

पृष्ठ ६३—

कल्प=ऊपर कहा हुआ एक सृष्टि काल। विश्व चराचर=चलने वाले और न चलने वाले पदार्थों से युक्त संसार

पृष्ठ ६५—

ज्ञान यज्ञ=ज्ञान योग। गति=पाने योग्य लक्ष्य। निधान=प्रलय के समय मनुष्य जिसमें समा जाते हैं। मैं अमृत........ सदा=उत्तम कर्म करने वालों के लिये मैं भला हूँ परन्तु दुष्टों के लिये मौत के बराबर हूँ। सत् और असत्=ईश्वर व्यापक होने से "सत्" है और दृष्टि गोचर न होने से असत् है। त्रैविद्य=तीन वेद के ज्ञाता। सोमपा=सोम नाम का रस पीने वाले। यजन=यज्ञ। सुर लोक=स्वर्ग।

पृष्ठ ६७—

तत्त्व=रहस्य, सार। पितर=पूर्वज।

पृष्ठ ६६—

यदि कोई........मुझे=यदि कोई दुष्ट होकर भी सच्चे

मन से परमात्मा का भजन करता है। संकल्प=विचार। मम धाम=मेरा घर अर्थात् मुक्ति।

दसवां अध्याय

पृष्ठ १०१—

आदि भूत=पहला मनुष्य। अजन्मा आदि रहित= जिसका प्रारम्भ न हो। मर्त्यों=मनुष्यों। शम=शान्ति। सात महा ऋषि=सप्तर्षि। चार वृद्ध=सनक आदि चार पूर्व पुरुष। मनुकी सन्तान=स्वायंभुव आदि १४ मनु।

पृष्ठ १०३—

देवर्षी=देवर्षि। देवल, व्यास, असित=यह नाम हैं। दानव= राक्षस।

पृष्ठ १०५—

दिव्य विभूति=देवताओं वाली सम्पत्ति। छन्द १८ 'तेरी....... न हो'। हे कृष्ण! मैं सदा तुम्हारी बाणी सुनता ही रहूं। गुडा- केश=नींद को जीतने वाला, अर्जुन। वासव=इन्द्र।

पृष्ठ १०७—

शिखरों=पहाड़ों। बृहस्पति=बृहस्पति (नाम)। भृगु=भृगु (नाम)। गिनने वालों में=दिन, पक्ष, बड़ा आदि में जो सम है सो मैं हूं।

पृष्ठ १०६--

बक्तन में=बोलने में । [illegible] । वाक्=वाणी स्मृती=स्मृति । वृष्णीकुल=यादव वंश । उशाना=एक कवि का नाम

ग्यारहवां अध्याय

पृष्ठ ११३—

महात्म्य=बड़ाई । [illegible] ।

पृष्ठ ११५—

गुडाकेश=अर्जुन । धनुर्धर=अर्जुन । आभा=चमक मधुसूदन=कृष्ण । सुर=देवता । नाग=एक वंश का नाम ।

पृष्ठ ११७—

पेखू=देखू । आदी=आदि । प्रखर=बहुत प्रचण्ड । असीम=अत्यन्त (गरम) । अलख्य=न देखे जाने योग्य । ज्ञातव्य=जानने योग्य । सनातम=आदि । अवसान=अन्त । अमित=अनेक । व्यथा=पीड़ा, दुख ।

पृष्ठ ११६—

संघ=समूह । स्तुती=स्तुति, प्रशंसा । स्वस्ती=स्वस्ति, कल्याण सदश=समान, तुल्य । जगद्धर=जगत को धारण करने वाले ।

पृष्ठ १२१—

खद्योत=पतंग । द्युति=तेज, चमक ।

पृष्ठ १२३—

विकट=भयंकर। योधा=योद्धा, वीर।

पृष्ठ १२५—

हृषीकेश=श्री कृष्ण। प्रभू=प्रभु। पराक्षर=नष्ट होने वाला।

पृष्ठ १२७—

साष्टांग नमस्ते=आठों अङ्गों से प्रणाम करना। लख=देख

पृष्ठ १२९—

घोर=भयंकर। तज=छोड़ दे। अवलोक=देख। वेदज्ञों=वेद के जानने वालों।

पृष्ठ १३१—

संग=आसक्ति।

बारहवाँ अध्याय

पृष्ठ १३३—

गती=गति, दशा।

पृष्ठ १३५—

परायण=लगे हुए। धनञ्जय=अर्जुन। सिद्धी=सिद्धि। उद्वेग=कंपन। उत्तेजना=क्रोध।

पृष्ठ १३७—

उदासी=अनासक्त। पावन=पवित्र। विषयासक्ती=विषयों

में आवक्ति। गहे= प्राप्त करे। भारत=भरत की सन्तान, अर्जुन।

तेरहवां अध्याय

पृष्ठ १४१—

अहंता=अहंकार, घमंड। पञ्चभूत=पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश। पांच विषय=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। जन गण..... रहना=यथासम्भव एकान्त सेवन करना।

पृष्ठ १४३—

गतिमान=चलनेवाला; परम पुरुष=परमात्मा; अनुमति= उपदेश, सलाह।

पृष्ठ १४५—

[illegible]। सद्ज्ञान=सच्चा ज्ञान। [illegible]।

चौदहवां अध्याय

पृष्ठ १५१—

प्रमादी=असावधान। कर्म योनि=कर्मक्षेत्र। कर्म योनि में जाता है=पुनर्जन्म लेकर फिर कर्म करता है।

पृष्ठ १५३—

देह जन्य=देह से उत्पन्न हुये। प्रभू=प्रभु । आचार=व्यवहार। जो मोह.........न हो=जो नर प्रकाश व चेष्टा व मोह को पाने पर सुखी नहीं होता, परन्तु यदि नहीं पाता तो इनकी इच्छा नहीं करता, सत्व गुण से प्रकाश होता है, रजोगुण से चेष्टा होती है और तमोगुण से मोह होता है।

पृष्ठ १५५—

अरि=शत्रु । अविचल=निश्चल, स्थिर। गुणातीत तीनों गुणों से मुक्त। सार=निचोड़। दुर्लभ=न प्राप्त होने वाला।

——:o*o:——

पन्द्रहवां अध्याय

पृष्ठ १५९—

निमग्न रहे=लगा रहे। धाम=मोक्ष का स्थान। पुरातन=पुराना। प्रकृतिस्थ=संसार चक्र में फँसी हुई।

छंद ८ का भाव-ईश्वर से अभिप्राय यह ईश्वर का अंश रूप आत्मा या जीव है। जब यह तन धारण करता है या त्याग करता है तो मन के साथ इन्द्रियों को भी इस प्रकार ले जाता है जैसे पवन गन्ध को साथ ले जाती है। प्रचण्ड=तीक्ष्ण।

पृष्ठ १६१—

भूतल—पृथ्वी। भूतों=मनुष्यों । पोषण=पालना, जठराग्नि=पेट की अग्नि। प्राणापान=प्राण अपान, सांस द्वारा अन्दर

आने वाली वायु "प्राण" कहलाती है और बाहर आने वाली "अपान" कही जाती है। चारों अन्न=खाने योग्य, निगलने योग्य, चाटने योग्य और चूसने योग्य। अपोहन=विचार द्वारा संशय मिटाने की क्रिया। अन्तर्यामी=आत्मा। अनघ=पाप रहित। कृत कृत्य=कृतार्थ, अपने काम में सफल।

सोलहवां अध्याय

पृष्ठ १६३—

स्वाध्याय—उत्तम पुस्तकों का पढ़ना। सुरसंपत्ति=देवताओं के गुण। असुर-सम्पदा=राक्षसों के गुण। असुरी=राक्षसी।

पृष्ठ १६५—

ईश्वर रहित=ईश्वर हीन, ईश्वर के बिना बना है। मति-मन्द=खोटी मति वाले। दम्भ=पाखंड। [illegible] युक्त=लिये हुये, सहित।

पृष्ठ १६७—

दर्प—घमण्ड। व्यापी=व्यापक, सब में रमा हुआ। तम=अन्धकार, अज्ञान।

सतरहवाँ अध्याय

पृष्ठ १६६

प्रकृति=स्वभाव। मानव=मनुष्य। निशाचर=राक्षस, राग=आसक्ति। जो विद्यमान..........रहता=श्रीकृष्णजी ईश्वर की ओर से कहते हैं।

पृष्ठ १७१–

पौष्टिक=पुष्टिकारक, बलवर्धक, शुचि=शुद्धि, पवित्रता।

पृष्ठ १७३–

मौन=चुप। तपी=तपस्वी। पात्र=पुरुष। उर=मन। निर्माण हुआ=बने। विधि से=नियमपूर्वक।

अठारहवाँ अध्याय

पृष्ठ १७७—

इच्छित कर्म=जो कर्तव्य को न देखकर केवल स्वार्थ या इच्छा से किया जावे। विस्तार सहित=खोलकर। तीन तरह का=त्याग तीन तरह का होता है। संग=राग, आसक्ति। सम्मति=सलाह।

पृष्ठ १७६–

शुभ दुखद कर्म=यह शुभ कर्म जो दुखदायक प्रतीत होता है अर्थात् जिसके करने में कठिनाई हो।

दुखद=दुख देने वाले अच्छे कर्म । सुखद=सुखदायक बुरे कर्म । अनृत=झूठ । मिश्र=शुभ और अशुभ । महाबाहु= लम्बी भुजाओंवाला अर्जुन । पांच कारण=(१) कर्ता, (२) आधार, ३ विविध साधन, ४ विविध क्रियायें, ५ प्रारब्ध अर्थात् १ काम के करने वाला, २ स्थान, ३ जिसके द्वारा क्रिया की जावे, ४ क्रिया ५ भाग्य ।

पृष्ठ १८१–

निर्लेप मति वाला=कर्मों में आसक्त न होने वाला । ज्ञेय=जानने योग्य वस्तु । ज्ञान=जिसके द्वारा कुछ जाना जाय । ज्ञाता=जानने वाला । कर्ता=काम के करने वाला, करण=कर्म करने के साधन । क्रिया=कर्म । द्वैत भाव=भिन्नता का भाव ।

पृष्ठ १८३–

धृति=धारणा । प्रवृत्ति=झुकाव, निष्काम कर्म करने में रुचि होना । निवृत्ति=कर्म करने ही से दूर रहना, सन्यास । भयाभय=डरना और न डरना ।

पृष्ठ १८५ -

बुद्धि प्रसाद जनित=मन की प्रसन्नता से प्राप्त हो ! आस्तिकता=परमात्मा में विश्वास । धृति=धैर्य, साहस ।

पृष्ठ १८७–

पर धर्म=दूसरे के करने योग्य काम । विगुण=गुण रहित । जो कर्म ''''तजे=अपना कर्तव्य कर्म यदि तुमको बुरा भी

लगे तो भी मत छोड़ो। ज्ञान को पराकाष्ठा=ऊँचा ज्ञान। ब्रह्म·······जागे=वह ब्रह्म को पा जाता है। अमर पद=न क्षीण होने वाली दशा, मुक्ति।

पृष्ठ १८६——

छन्द ५६ का भाव=यदि तू मेरी शिक्षा मान कर युद्ध नहीं करेगा तो भी तेरी प्रकृति तुझ से यह बात अवश्य करावेगी। क्योंकि मनुष्य अपने स्वभाव के अधीन है और तेरी न लड़ने की प्रतिज्ञा झूठी हो जायगी। मनन करो=विचार करो। गूढ़=गुप्त, गहरा। अविचल=निश्चल, दृढ़।

पृष्ठ १६१——

धर्म संवाद=धर्म युक्त बात चीत। रोमाञ्च=प्रफुल्लित, प्रसन्न। हरषाया=प्रसन्न हुआ। विस्मित=हैरान। विजय=जीत नीति=कार्य कुशलता, निपुणता। श्री=सम्पत्ति, लक्ष्मी। वैभव=धन सहित यश।

गीता के मुख्य उपदेश

पृष्ठ १६४--

अजर=न बूढ़ी होने वाली। मति हीन=बुद्धि हीन। हेतु=लिए लखि=देख कर। जीर्ण=पुराने। नेह=प्रेम। धीर=बुद्धिमान।

पृष्ठ १६५--

अनुकरण=पीछे चलना। अटल=पक्का, न टलने वाला। स्वतन्त्र=आज़ाद। प्रवीण=चतुर।

पृष्ठ १६६--

सर्वस्व=सब कुछ। प्रतिष्ठा=सम्मान। असंख्य=बहुत सी जलवाही=बहुत जल वाली। सरितायें=नदियें। नितान्त=सर्वथा, पूर्ण रूप से। कामनायें=इच्छायें। फलदायी=फल देने वाले।

पृष्ठ १६७--

हर्ष=प्रसन्नता। कूर्म=कछुआ। समान=एक जैसा, बराबर। सात्विक=अत्युत्तम। भावना=विचार। महापुरुष=महापुरुष, सज्जन। पात्र=पुरुष, स्थान।

पृष्ठ १६८--

निष्काम=फल की इच्छा न करते हुये। त्राहित्राहि=बचाओर शिरोधार्य=सिर पर रखना, आदर करना। काञ्चन=सोना। पगों=पैरों। उद्धार=सुधार, उन्नति। हेत=लिए। खल=नाश॥

शुद्धि पत्र

नोट—पाठकों से निवेदन है कि पुस्तक पढ़ने से पहले निम्नलिखित शुद्धियां कर लें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
[२]	११	समांपत	समर्पित
[३]	३	[४]	[२]
[६]	४	प्रभुः	प्रभुः
[६]	१७	मार्गितिव्यं	मार्गितव्यं
[७]	११	शान्ति	शान्ति
[८]	१४	यत्वं	यत्त्वं
[९]	१०	संस्थांपना	संस्थापना
[१०]	२	सवव्यापक	सर्वव्यापक
१०]	७	विवजितम	विवर्जितम्
,,	६	दावज्ञेयं	दुर्विज्ञेयं
[११]	१	कम	कर्म
,,	२	सर्वगत	सर्वगतं
[१२]	१०	घर्मार्थ	धर्मार्थ
[१३]	३	श्रीमद्भगवत	श्रीमद्भगवत
,,	८	द्वादिक	हार्दिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
[१३]	१०	तजं	तज्
[१६]	१५	युक्तिया	युक्तियों
[१७]	१४	दर्म	धर्म
[१८]	७	मिसमरेजम	मिसमरेजम
२	३	प्रथमोऽध्यायः	इसके नीचे "अर्जुन
,,			विषाद योग" और जोड़ो
३	१६	बिराग	विराट
४	५	समितञ्जयः	समितिञ्जयः
,,	१२	स एव हि	सर्व एव हि
,,	१४	कुरुवृद्ध	कुरुवृद्धः
५	२०	अद्भूत	अद्भुत
६	२	वृक्रोदरः	वृकोदरः
,,	५	काश्यश्यश्च	काश्यश्च
,,	१८	द एतेऽत्रसमागतांः	य एतेऽत्र समागताः
७	२	वाजा	वजा
,,	१६	बीरों	वीरों
८	८	तत्रापश्यत्	तत्रापश्यत्
,,	१२	अर्जुन उवाच	इसे १३ वीं पंक्तिके पीछे पढ़ो।
८	१८	शक्तोन्यवस्थातु	शक्तोम्यवस्थातुं
	५	बोरों	वीरों
६	१२	अर्जुन बोला	इसे १३ वीं पंक्ति के पीछे पढ़ो।
,,			

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	१३	॥	१४ वीं पंक्ति में ॥२ के आगे रखो।
१०	३	भोगा	भोगाः
,,	६	त्रैलोक्य	त्रैलोक्य
१२	६	व्यवसिताक्यम्	व्यवसिता वयम्
,,	१०	य ाज्य	यद्राज्य
,,	११	मामप्रतागार	मामप्रतीकारं
१२	१६	योगशास्त्रे	योगशास्त्रे
,,	१७	कृष्णार्जुन संवादो	कृष्णार्जुनसंवादे
१४	१	द्वितीयोऽध्यायः	इसके नीचे 'सांख्ययोग' और जोड़ो।
,,	८	नैतत्वय्युयद्यते	नैतत्वय्युपपद्यते
,,	१४	भैंदय	भैदय
१५	७	आर्यों	आर्यों
१६	१	गरीया	गरीयो
१९	२	यद्वा	यद्वा
,,	६	संमूढ़	संमूढ
,,	८	शि यतेऽहं	शिष्यस्तेऽहं
,,	१३	उवाच	उवाच
,,	१४	परतपः	परंतप
१७	१६	व्यथे	व्यथं
१८	१४	व्यस्या	व्ययस्या

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	२०	भूपः	भूयः
१६	१७	वहे	कहे
२०	१४	सृतम	मृतम्
,,	१५	नैनं	नैनं
,,	१७	परिहाये	परिहार्ये
,,	१८	अव्यक्तादीनि	अव्यक्तादीनि
,,	,,	व्तक्त	व्यक्त
,,	१६	अव्यक्ता	अव्यक्त
२१	८	जलाने	गलाने
,,	२०	अद्भत	अद्भुत
२२	८	कीर्ति	कीनि
,,	६	अकीर्त्ति	अकीर्ति
२४	१०	भौगे	भोगें
,,	११	भौगे	भोगै
२६	२०	आत्मन्येवात्मना	आत्मन्येवात्मना
२७	१६	स्थित मति	स्थिरमति
२८	१०	निवतते	निवर्त्तते
,,	१३	सर्वाणि	सर्वाणि
,,	१६	यैश्वरन	यैश्वरन
३०	१८	संवादेऽजुर्न	संवादे
३१	११	कहे	कहें

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	७	भावयतानेन	भावयतानेन
३६	१५	तन्द्रितः	तन्द्रितः
,,	१६	वर्त्मानुर्वन्ते	वर्त्मानुवर्तन्ते
३८	६	बिमूढात्मा	बिमूढात्मा
,,	७	समूढा	संमूढाः
३६	१३,१५	द्वोष	द्वेष
४४	१	चतुर्थोऽध्यायः	इसके नीचे "ज्ञान कर्म सन्यास योग" और जोड़ो
,,	८	भक्ताऽसि	भक्तोऽसि
४६	८	वहवो	बहवो
,,	१६	पूर्वे	पूर्वैं
४८	२	तते	तत्ते
४६	६	योमी	योगी
४६	११	सग्रह	संग्रह
५०	१४	लोकोऽस्त्य	लोकोऽस्थ
,,	१५	वहुविधा	बहुविधा
,,	२०	वर्माखिलं	कर्माखिलं
५१	१४	प्राणां	प्राणों
५२	१	सेबया	सेवया
,,	६	वृजिनं	वृजिनं
,,	८	ज्ञानांग्निः	ज्ञानाग्निः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२	१७	नात्मन	नात्मनः
५६	६	शन्नि	शान्ति
५७	१५	करयें	करायें
५८	३	प ायणः	परायणः
,,	५	बिनय	विनय
,,	६	स्वपाके	श्वपाके
,,	८	ब्रह्मणि	ब्रह्मणि
,,	१२	स्नय्य	जय
,,	१८	निर्वाणं	निर्वाणं
५६	३, ८; १०	ब्राह्मण, ब्रह्मण	ब्रह्म।
,,	७	सम्य	साम्य
,,	११	इन्द्रिय	इन्द्रिय
,,	१८	ब्रह्म	ब्रह्म
६१	८	तब	लव
६३	११	बन	जन
६४	१०	युज्या	युञ्ज्या
,,	१७	नात्यश्नस्तु	नात्यश्नतस्तु
६७	६	परँ	परं
६६	१०	कहीं	कहीं
,,	१७	वंश	वश
७०	७	पथिः	पथि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	१८	कुरुतन्दन	कुरुनन्दन
७१	१	वंश	वश
,,	८	सन्देश	सन्देह
७२	३	किल्विषः	किल्विषः
७४	१४	में	मे
७५	३	स्वाच	वेत्ते
७६	६	सर्य	सर्व
,,	१८	परमव्ययम्	परमव्ययम्
७८	७	एवैषु	एवैते
८१	१४	युक्त	मुक्त
८२	१०	भूत ।	भूतभा
८६	११	व्रय	व्र य
९१	६	युक्त	मुक्त
,,	११	धरे	धरें
९६	४	चेम	चेमं
९८	३	शाश्वच्छान्ति	शश्वच्छान्तिं
१०२	११	स्था	स्थो
१०४	५	चिन्तयन्	चिन्तयन्
”	८	मेऽमृत	मेऽमृतम्
१०५	७	कहा	कहो
”	१२	गुडाकेश	गुडाकेश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	१५	भूत	भूतों
”	१६	हुँ	हूँ
१०६	४	स्कंधः	स्कंदः
”	७	ब्रह्माणां	ब्रह्माणां
”	”	देवर्षिनां	देवर्षीणां
१०७	६	म	में
”	१०	गजा	गजों
”	१८	सभाल	संभाल
”	१६	पशरामः	परशुरामः
१०७	२०	जलचरिन	जलचारिन
१०८	६	वाक	वाक्
”	६	द्यूत	द्यूतं
”	१०	सत्यवता	सत्यवता
”	१२	कविना	कवीना
”	१	प्रोक्ता	प्रोक्तो
”	१८	दर्जित	दूर्जि
	१८	तेजोंउरा	तेजोंऽरा
१०९	१	पहिचाना	पहिचानो
”	६	क्षमा, वीरज	क्षमा, नारी धीरज
”	८	मार्मो	मार्गों
”	६	तेजस्वी	तेजस्वी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११२	१	एकादशी	एकादशो
,,	७	[illegible]	[illegible]
११४	६, १०	दिव्य	द्विव्य
११६	१	करे	करें
१२१	८	दातों	दांतों
१२२	११	भयैवैते	मयैवैते
,,	१३	कर्णां	कर्णां
१२६	५	तस्यस्मा	तस्मा
,,	११	त्वा	त्वां
,,	१८	एवं	एवं
१२७	१८	वह लोक	इस लोक
२८	०	वाचव	उवाच
,,	११	दृष्ट्वेढं	दृष्ट्वेदं
,,	१७	एव विवो	एवं विवो
१२६	१२	प्राप्त	प्राप्त
,,	१९	वेदज्ञां	वेदज्ञों
१३३	२५	ओंर	ओर
१३४	१०	वेतात्म	यतात्म
१३५	१२	जा	जो
१३६	११	योगशास्त्र	योग शास्त्रे
१३८	१३	यद्रिकारी	यद्धिकारी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	११	मद्भक्तः	यद्भक्त
”	१५	बारण	करण
१४३	१३	कृप्रति	प्रकृति
१४४	६	परमेश्रम्	परमेश्वरम्
१५०	११	सबें	सर्वे
१५२	६	वृति	वृत्ति
”	१७	नब	नव
१५३	४	माने	मानो
”	१८	कोह	को ही
१५४	६	शास्त्र	शास्त्रे
”	१०	गुणां	गुण
१५६	१४	प्रपद्य	प्रपद्ये
१५७	६	चहूँ	चहुँ
१५८	४	व्यय	व्यय
१५६	३	मोड	मोड़
१६०	५	चा-दि	चाहे हृदि
”	६	सबै	सबैं
”	६	पुरुपस्त्वन्यः	पुरुषस्त्वन्यः
”	१७	यागे	योग
१६३	११	संपदा	संपदा
१६६	६	नाशान	नाशन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६६	१४	परा	परां
,,	३	षड़ा	पड़ा
१७१	५	)	,
१७२	२०	बादिनाम	वादिनाम्
१७३	१६	कर्न	कर्न
१७५	४	श्रो	है
,,	८	में "असत"	में वे "असत्"
१७६	१६	निश्चिर्तं	निश्चितं
१७६	५	को	जो
१८०	४	त्रिविवः	त्रिविवः
,,	१७	पौरुषमृ	पौरुषम्
११८३	७	प्रवृत्ती निवृत्ती	प्रवृत्ती निवृत्ती
१८४	१२	ज्ञान	ज्ञानं
१८५	२०	बही	वही
१८८	२	सतत	सततं
,,	६	नियादयति	नियोदयति
१६१	१०	आवें	आवे
,,	११	गूढ़	गूढ़
,,	१६	समझा	समझ
१६२	१०	भोच	मोच